प्रकाशक—
ला० मिट्ठनलाल अग्रवाल
पब्लिशर एण्ड बुकसेलर
देहरा दून ।

सफलता का रहस्य
पृ० सं० १८५ मू० १)
उपरोक्त पते से मंगाइये

मुद्रक—
स० जसवन्त सिंह,
भास्कर प्रेस

प्रेमोपहार

श्रीः

भूमिका ।

प्रस्तुत पुस्तक जो भावुक पाठकों के करकमलों में समर्पित की जा रही है। यह किसी बंगला भाषा के प्रवीण लेखक प्रवर की लिखित "पातञ्जल योग दर्शन" की टीका के आरम्भ में दिये हुए, योगशास्त्र को नवीन विज्ञान की सहायता से समझने की विशेष प्रवृत्ति का राष्ट्र भाषा में अनुवाद मात्र है। पुस्तक जिस तरह जिस दशा में हमें प्राप्त हुई है, इसकी कथा विस्तृत और अनावश्यक होने के कारण यहां पर लिखना अप्रासंगिक है। परन्तु इसपर भी इतना लिखदेना आवश्यक प्रतीत होता है, कि अधिकाधिक चेष्टा करने पर भी अभीतक लेखक महोदय के नाम आदिका पता नहीं लग सका है। जिससे हम उनका परिचय पाठकों से कराने में असमर्थ हुए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक आद्योपान्त पढ़ते जाइये इसके प्रत्येक पृष्ठ व पंक्ति में "बिना प्रत्यक्ष अनुभव किये बिना" किसी भी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी रहस्यमय बातपर अन्धविश्वास स्थापन का विरोध किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु के आभ्यन्तर प्रदेश में निगूढ़ रहस्य को प्रत्यक्ष अनुभव कर देखने के युक्तियुक्त सरल वैज्ञानिक उपाय बताये गये हैं। इसी सिलसिले में आजकल जो विभिन्न धर्मसंप्रदायों और दार्शनिक मतों में परस्पर प्रबल विद्वेष और मारकाट आदि होने का युक्ति युक्त कारण दर्शाया गया है; साथ ही विभिन्न

धर्ममतों की आलोचना करते हुए उनके भीतर वर्त्तमान उपयुक्त गुप्त रहस्यों को उद्घाटन पूर्वक उनको प्रत्यक्षकर ग्रहण करने की वैज्ञानिक युक्ति बताई गई है।

भारतीय पुरातन परिपाटी के अनुसार सूत्रमय भाषा में लिखे हुए अष्टाङ्ग राजयोग साधन विधि के शास्त्र और अनुभव सिद्ध इस पुरातन सिद्धान्त को लेखक ने नवीन पदार्थ-विज्ञान की शैली से वर्णन कर अधिक सरल, सुगम और रोचक बना दिया है। अनुवाद करते समय पुस्तक के अन्तर्गत विभिन्न विषयों की आलोचनाओं को सुलभतया ढूंढ निकालने के लिए यथावश्यक स्थलों पर मोटे २ अक्षरों में "साइड हेडिंग" आदि द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इसके अतिरिक्त इस बातकी ओर भी विशेष ध्यान दिया गया है, कि मूल लेखक के भावों को अक्षुण्ण रखते हुए वर्णित विषय को रोचक और समयोपयोगी बनाने के लिए यथावश्यक स्थलों पर उस विषय को विस्तृत या संक्षिप्त किया गया है।

यद्यपि अनुवाद करते समय सबतरह से सतर्कता अवलम्बन की गई है, फिर भी मनुष्य की ज्ञान शक्ति की परिमितता के कारण जो कुछ त्रुटियां व न्यूनतायें रहगई हों, उनपर सुधिजन अपनी स्वभाविक स्नेह दृष्टि से वात्सल्य दिखाने की कृपा करेंगे।

देहरा दून
१५ अक्तूबर १९२९ ई०

विनीतः—
सत्येश्वरानन्द शर्मा लखेड़ा

श्रीः

विषय-सूची

पूर्वार्द्ध

प्रथम अध्याय ।

पृ०

विषय प्रवेश—

१	आधुनिक धार्मिक शिक्षा	२
२	विभिन्न मतमतान्तरों की वैज्ञानिक आलोचना	३
३	योग विद्या के आचार्यों का धार्मिक तत्व प्रत्यक्ष देखकर अनुभव करने का परामर्श	६
४	सांख्य दर्शन का मनो विज्ञान	२३

दूसरा अध्याय

साधन का प्रथम सोपानः—

१	हठ योग का उद्देश्य	३२
२	बीमार पड़जाना (साधन में प्रथम विघ्न)	३५
३	दूसरा विघ्न	३६
४	दृष्टान्त (साधन की सफलता)	३७
५	दृष्टान्त	४३

तीसरा अध्याय

प्राण (जीवनी शक्ति)

१	जब मनुष्य दूसरे के रोग को आराम करने की चेष्टा करता है	७०
२	संसार में जितने भी महा पुरुष हुए हैं	७४

चौथा अध्याय

प्राण का आध्यात्मिक स्वरूप—

१	एक और उदाहरण	८४
२	ज्ञान विरहित गति युक्त केन्द्र	९३
३	उस समय वह ही "स्वप्न" अथवा कल्पना के नाम से कहा जाता है	९५
४	इसी समय ही साधक को ज्ञानातीत या पूर्ण चैतन्य अवस्था प्राप्त होती है	,,
५	आत्मानुभूति	९६

पांचवाँ अध्याय

प्राण शक्ति का संयमः—

१	स्वर शुद्धि साधन की विधि	१००
२	नाड़ी शुद्धि की विधि	१०१
३	वायु निरोध साधन विधि	१०३
४	शक्ति वहन केन्द्र	१०६

॥ इति पूर्वार्द्ध समाप्तम् ॥

उत्तरार्द्ध

छठा अध्याय

प्रत्याहार व धारणा—

१ दुश्चारित्र में प्रवृत्ति और उससे निवृत्ति का उपाय २
२ मन संयम का फल ३
३ क्षणिक प्रभावित कारी धर्म प्रचारकों की आलोचना ७
४ प्रत्याहार और उसका साधन १०
५ वानर का उदाहरण ११
६ धारणा व उसकी साधन विधि १४

सातवाँ अध्याय

ध्यान व समाधि २६
१ मन की ज्ञान और अज्ञान भूमिकाओं से होने-
वाले कार्य २७
२ मनकी ज्ञानातीत भूमिका के कार्य २९
३ हितवादी व विज्ञानवादियों के प्रश्न और उनका उत्तर ३४
४ ध्यान व समाधि साधन विधि ४४

आठवाँ अध्याय

१ संक्षेप में राजयोग की क्रियायें ५१
२ ध्यान की पहिली विधि; ५८
३ ध्यान की दूसरी विधि; ५९
४ उदाहरण ६०

॥ उत्तरार्द्ध समाप्तम् ॥

ॐ नमः परमात्मने ।

राज-योग-विद्या

या

अन्तः प्रकृति जय ।

प्रथम अध्याय ।

विषय प्रवेश—हमें जो कुछ भी ज्ञान है या होता है, वह सबका सब स्वानुभूति (अपने अनुभव) के ऊपर निर्भर करता है। अनुमान से होने वाले ज्ञान की (सामान्य से सामान्यतर या सामान्य से विशेष ज्ञान इन दोनों की ही) भित्ति केवल एकमात्र मनुष्य की स्वयं अपनी स्वानुभूति है। जिनको निश्चित विज्ञान* कहते हैं, उनकी सत्यता लोग सहज में ही जान सकते हैं; क्योंकि उसको प्रत्येक मनुष्य ही वह वस्तु सत्य है या नहीं इसकी जांच पड़ताल स्वयं अपने आप करके देखने के अनन्तर फिर विश्वास करने को कहेगा।

---

*Exact Science—निश्चित विज्ञान अर्थात् जिन सब विज्ञानों का तत्व इतना सही २ निर्णीत हो गया है, कि गणित के द्वारा भविष्यत् बात निश्चय कर बताई जा सकती है जैसे—गणित, गणित-ज्योतिष आदि।

विज्ञानवेत्ता तुम्हें किसी बात को स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव किये बिना विश्वास करने को नहीं कहेगा। क्योंकि उसने कुछ विशेष बातें स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करके देखी हैं, और उनपर विचार कर वह कुछ सिद्धान्तों पर पहुँचा है। जब वह अपने उन सिद्धान्तों में हमें विश्वास करने को कहेगा, तब समझना चाहिए सर्व-साधारण मनुष्यकी स्वाभाविक अनुभूतिके ऊपर उसके सत्यासत्य (सचझूठ) के निर्णय करने का भार उसने छोड़ दिया है। प्रत्येक निश्चित-विज्ञान (Exact Science) की ही एक साधारण भित्तिभूमि (जड़ या आधार) होती है; जिसको सर्वसाधारण मनुष्य समझ सकते हैं। इच्छा करनेपर हरकोई उसके सत्यासत्य को उसी समय मालूम कर सकते हैं। तो अब यहां पर प्रश्न यह होता है कि इस प्रकार धर्म की भी कोई भित्तिभूमि है, वा नहीं? इसका उत्तर देने के लिए हमें हां ना यह दोनों ही कहना पड़ेगा।

आधुनिक धार्मिक शिक्षा--संसार में धर्म पर निश्चय के विषय में जो कुछ शिक्षा मिलती है, वह यह है, कि धर्म की स्थापना केवल श्रद्धा व विश्वास के ऊपर है; और अधिकांश में वह भिन्न २ मतों की एक समष्टि मात्र है। इसी कारण से ही धर्म धर्मों में परस्पर केवल वाद विवाद देखने में आता है। इसके अतिरिक्त ये मत-मतान्तर भी केवल विश्वास के ऊपर स्थापित हैं। क्योंकि-"कोई २ कहते हैं, कि "सातवें आस्मान पर एक महान पुरुष

निवास करते हैं, वे ही सारे संसार पर शासन करते हैं;" इस बात को मानने के लिये वक्ता केवल अपनी बात पर निर्भर रखकर हमें विश्वास करने के लिये कहता है। इस प्रकार हमारे में भी कई तरह के भाव या विश्वास हो सकते हैं, हम भी दूसरे को विश्वास करने के लिये कहते हैं। यदि वे कोई युक्ति या दलील मांगें या इस विश्वास का कारण पूछें, तब हम उसको कोई भी युक्ति दिखाने में असमर्थ होते हैं। इसीलिये आजकल धर्म व दर्शन शास्त्र पर से लोगों का विश्वास अधिकांश में उठ गया है। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति ही कह उठता है, कि ये सब के सब धर्म केवल विभिन्न मतमतान्तरों की समष्टि मात्र है। जिसके जो मन में आता है, धर्म के विषय में वह वही कह उठता है। प्रत्येक व्यक्ति ही अपने अन्ध परम्परा से माने हुये मत को युक्ति शून्य व निरर्थक होने पर भी प्रचार करने के लिये व्यति-व्यस्त दिखाई देता है। तो भी हमारा कहना यह है, कि जितने देशों में जितने प्रकार का धर्म है, जितने प्रकार के सम्प्रदाय हैं, उन सब धर्मों और सम्प्रदायों के भीतर ही एक मूल साधारण भित्ति सूक्ष्म भाव से टिकी हुई है। इस भित्ति तक पहुँचने पर मालूम होता है, कि ये सब मतमतान्तर एक सार्वभौम प्रत्यक्षानुभूति (प्रत्यक्ष अनुभव) के ऊपर स्थापित हैं।

विभिन्न मतमतान्तरों की वैज्ञानिक आलोचना:—

सबसे पहिले मेरा अनुरोध है, कि आप पृथ्वी में वर्तमान

सब के सब भिन्न २ धर्मों को थोड़ा सा विश्लेषण (जुदा २) कर देखिये थोड़े से अनुसन्धान करने पर ही देख पाओगे, कि ये दो श्रेणि में बंटे हुए हैं। किसी २ धर्म मत की शास्त्र भित्ति है, और किसी २ की शास्त्र भित्ति नहीं है। जो शास्त्र भित्ति के ऊपर स्थित हैं, वे बहुत ही सुदृढ हैं, और उस धर्म के मानने वाले लोगों की संख्या ही अधिक देखने में आती है। शास्त्र भित्तीहीन धर्म प्रायः सबके सब लोप हो गये हैं। कुछेक नये खड़े हुए हैं सही, परन्तु बहुत थोड़े लोग ही उनके मानने वाले हैं। तोभी इन सब सम्प्रदायों में ही यह एक मत की एकता दिखाई देती है, कि उनकी शिक्षा उनके प्रवर्त्तक मूल पुरुषों का प्रत्यक्ष अनुभव मात्र है। क्रिश्चियन (इसाई) तुम्हे उनके धर्म में, यिशु खिष्ट को ईश्वर का अवतार कहकर और ईश्वर में, आत्मा व आत्मा की उन्नति में, विश्वास करने को कहेंगे। यदि हम उनसे उनके इस विश्वास का कारण पूछें, तो वे हमें कहेंगे "यह हमारा विश्वास है„। परन्तु यदि तुम स्वयं खीष्ट धर्म के मूल देश में पहुँच कर देखना चाहोगे, तो देख पाओगे, कि वहभी किसी प्रत्यक्षानुभूति के ऊपर स्थापित है। क्योंकि यिशु खीष्ट कह गये हैं, कि "मैंने ईश्वर का दर्शन किया है„। उनके शिष्यों ने भी कहा था, कि„ हमने ईश्वर का अनुभव किया था„। इस प्रकार की और और भी प्रत्यक्षानुभूतियां सुनाई देती हैं।

बौद्ध धर्म भी इसी प्रकार का है। बुद्धदेव की प्रत्यक्ष अनुभूति के ऊपर इस धर्म की स्थापना हुई है। उन्होंने कुछेक सत्य

सिद्धान्तों का अनुभव किया था—उन्होंने उनका दर्शन किया था, उन सब सिद्धान्तों के संस्पर्श में आये थे, और उन्हीं को उन्होंने संसार में प्रचार किया था। हिन्दुओं के विषय में भी यही बात देखने में आती है। उनके शास्त्रों में ऋषिनाम धारी ग्रन्थकर्ता कह गये हैं, कि "हमने कुछ सत्य सिद्धान्तों का अनुभव किया है,, और वे उन्ही को ही संसार में प्रचार कर गये हैं। इससे स्पष्ट ही समझने में आजाता है, कि संसार में वर्त्तमान सबके सब धर्म, ही ज्ञानकी सार्वभौमिक व सुदृढ़ भित्ति जो प्रत्यक्षानुभव है—उसके ही ऊपर स्थापित हुए हैं। सब के सब धर्मांचार्यों ने ईश्वर के दर्शन किये थे। उन सबने ही आत्म दर्शन किया था, उन सब को ही अपने अनन्त स्वरूप का दर्शन हुआ था, उन सबने ही अपनी भविष्यत् दशा को देखा था, और जो कुछ उन्होंने देखा था, वह ही वे संसार में प्रचार कर गये हैं। परन्तु सिर्फ भेद इतना ही है, कि प्रायः सब धर्मों में, विशेष करके आधुनिकों में, एक अद्भुत समस्या हमारे सामने आखड़ी होती है, और वह यह है, कि अब ये सब अनुभूतियां प्रत्यक्ष होना असम्भव होगई हैं। क्योंकि जो जिस धर्ममत के सब से पहिले स्थापन करने वाले थे, बाद को जिन के नाम से वह धर्म मत प्रचलित हुआ, इस तरह के बहुत थोड़े व्यक्तियों में ही केवल इस तरह की प्रत्यक्ष अनुभूति होना सम्भव था। अब इस तरह के अनुभव होने का कोई भी उपाय नहीं हैं; इसलिए अब धर्म को विश्वास पूर्वक ही ग्रहण करना चाहिए; पर मैं इस बात को मानने के लिए बिल्कुल तैय्यार

नहीं। क्योंकि यदि संसार में किसी प्रकार के विज्ञान की कोई बात किसी ने किसी समय प्रत्यक्ष कर देखी होगी, तो उससे हम इस सार्वभौम सिद्धान्त में पहुँच सके हैं, कि पहिले भी उसको करोड़ों बार जान सकने की सम्भावना थी और बाद को भी उस को जान सकने की अनन्तबार सम्भावना रहेगी। क्योंकि समवर्त्तन ही प्रकृतिका एक सबसे बलवान नियम है; जो एक बार हो गया है, वह फिर से भी हो सकता है।

योग विद्या के आचार्यों का धार्मिक तत्व प्रत्यक्ष देख कर अनुभव करने का परामर्श— इसीलिये "योगविद्या" के आचार्यगण दृढ़ता पूर्वक कह गये हैं, कि धर्म केवल पहिले के धर्मप्रवर्तक अवतारि पुरुष की स्वानुभूति के ऊपर स्थापित है, यह बात नहीं है; बल्कि प्रत्येक मानवात्मा जब तक स्वयं इन अनुभवों को प्रत्यक्ष न कर ले, तब तक कोई भी यथार्थ में "धार्मिक" नहीं हो सकता। जिस विद्या के द्वारा ये सब अनुभूतियां होती हैं, उसका नाम योग है। जब तक कोई धर्म के सत्य को स्वयं अनुभव नहीं कर ले, तब तक उसको धर्म की बात कहनाही वृथा है। इससे यह बात स्पष्ट होजाती है, कि भगवान के नाम पर इतनी गण्ड गोल, लड़ाई झगड़ा और वादानुवाद क्यों हुआ करता है? भगवान के नाम पर संसार में जितनी खून खराबी हुई है, इतनी और किसी बात के लिये नहीं हुई है; इसका कारण एक मात्र यही है, कि ये धर्म के नाम-

पर लड़ने झगड़ने वाले कोई भी धार्मिक सिद्धान्तों का स्वयं अनुभव कर उसके अन्तस्तल तक नहीं पहुँचे हैं। सब के सब ही अपने पूर्व पुरुषाओं के कुछ देश काल पात्र के अनुसार पृथक् २ वाह्य आचार व्यवहारों को लेकर ही सन्तुष्ट रहे; और उनमें विशेष दुराग्रह यह रहा कि और सब भी हमारे जैसा ही आचार व्यवहार स्वीकार कर धार्मिक बनें। जिसको आत्मदेव की अनुभूति या ईश्वर साक्षात्कार नहीं हुआ है, उसको आत्मा या ईश्वर कहने का अधिकार ही क्या है? क्योंकि यदि ईश्वर हों, तो उनको देख लेना चाहिये, और यदि आत्मा नाम से कहलाने वाला कोई पदार्थ हो, तो प्रत्येक ईश्वर या आत्म विश्वासी को उसकी उपलब्धि--साक्षात्कार कर लेना चाहिये। यदि ऐसा न होकर केवल दंगा फिसाद या वादविवाद के लिये ही ये पदार्थ हों, तो इन पर विश्वास न करना ही ठीक होगा। जिससे जनता का अधिकांश उद्वेग, अशान्ति व व्यर्थ की मार काट तो बन्द होजाय। क्योंकि पाखण्डी की अपेक्षा स्पष्ट बोलने वाला नास्तिक कई गुना अच्छा हुआ करता है।

आजकल के विद्वान कहकर परिचित लोगों के मन का एक तरफ तो यह भाव है, कि धर्म, दर्शन व परम-पुरुष के अनुसन्धान में लगना यह सब निष्फल है। दूसरी ओर, जो अर्द्धशिक्षित हैं, उनके मन का भाव यह मालूम होता है, कि धर्म व दर्शन आदि की वास्तव में कोई भित्ति ही नहीं है; परन्तु फिर भी उनकी इतनी आवश्यकता जरूर है, कि वे केवल

संसार के हित साधन के लिये एक बलवान सञ्चालिनि शक्ति मात्र है; —क्योंकि यदि लोगों का ईश्वर की सत्ता में विश्वास रहेगा, तो लोग सत्य नीति परायण और परस्पर सद्भाव से वर्तने वाले सामाजिक बने रहेंगे। जिनके इस प्रकार के विचार हों, उनको इसके लिये कुछ भी दोष नहीं दिया जा सकता। क्योंकि वे धर्म के विषय में जो कुछ शिक्षा पाते हैं, वह केवल अन्तःसार हीन पागल के बकवाद के समान अनन्त शब्दों में विश्वास मात्र होता है; और उनको केवल उन्हीं शब्दों के ऊपर विश्वास करने को कहा जाता है। परन्तु क्या कभी कोई ऐसा कर सकता है? यदि लोग यह कर सकते, तो हमें मनुष्य स्वभाव के प्रति कुछ भी विश्वास न रहता। परन्तु मनुष्य स्वभावतः सत्य को चाहता है, स्वयं सत्य को अनुभव करना चाहता है, सत्य को धारण करना चाहता है, सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है, संसार के गुप्त से गुप्त रहस्य को जानना चाहता है। इसीलिये वेद भगवान कहते हैं, कि केवल उस समय ही सब सन्देह चले जाते हैं, सारा मोहान्धकार (तमोजाल) छिन्न भिन्न हो जाता है, सब कुटिलता सीधी हो जाती है, जब मानवात्मा अपने अन्तर हृदय में परात्पर देव ईश्वर का दर्शन कर लेता है।

"भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व-संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥

"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आये धामानि दिव्यानि तस्थुः"।
"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेवं विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते-यनाय ॥

हे अमृत की सन्तानों! हे दिव्य धाम निवासियो! सुनो हमने इस अज्ञानान्धकार से ज्ञान रूपि प्रकाश में पहुँचने का रास्ता पा लिया है; जो इस सारे तम (अन्धकार) से परे हैं उनको जान लेने से ही, उस ज्ञानोज्वल (ज्ञान से देदीप्यमान) स्थान में पहुँचा जाता है; मुक्ति का इससे अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

राजयोग विद्या इसी सत्य को प्राप्त करने के लिए और इसमें यथार्थ सफलता पाने के लिए व इस साधना के उपयोगी वैज्ञानिक प्रणाली को मनुष्यों के विषय में स्थापित करने का प्रस्ताव करती है। इसमें सबसे पहिली बात तो यह है, कि प्रत्येक विद्या की ही अनुसन्धान व साधन प्रणाली जुदी जुदी हुआ करती है। जैसे यदि तुम ज्योतिषि होना चाहो, और बैठे २ केवल ज्योतिष २ की रट लगाकर चिल्लाते रहो, तो ज्योतिष का तुम्हें कुछ भी ज्ञान न हो पायेगा। रसायन-शास्त्र के विषय में भी यही बात है, इसमें सफलता पाने के लिए भी

एक निश्चित प्रणाली का अनुसरण करना होगा; यन्त्रालय (Laboratory) में जाकर भिन्न २ द्रव्यों को लेना होगा, उनको इकट्ठा करके, जुज़ के अनुसार मात्रा में उनको मिला कर, फिर उस मिश्रित द्रव्य को लेकर परीक्षा करनी होगी, इस प्रकार करते २ विभिन्न द्रव्यों के गुण धर्म का ज्ञान कर लेने पर, फिर तुम रसायन-वेत्ता बन सकोगे। यदि तुम ज्योतिर्विद् बनना चाहो, तो तुम्हें मान मन्दिर में जाकर दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से तारा व ग्रहों का पर्यवेक्षण कर उनकी गति आदि के विषय में आलोचना करनी होगी, तब ही तुम ज्योतिषि बन सकोगे। इससे यह स्वयं सिद्ध है, कि प्रत्येक विद्या को सीखने के लिए ही एकएक निश्चित प्रणाली है। मैं आपको सैकड़ों उपदेश दे सकता हूं, परन्तु यदि आप मेरी बताई बात के अनुसार चलकर स्वयं साधना न करो, तो आप कभी भी धार्मिक नहीं होसकते। सब युगों में व सब देशों में ही निष्काम शुद्ध स्वभाव साधुसन्तों ने इसी सत्य का प्रचार किया है। उनको संसार की हितकामना के अतिरिक्त और कोई कामना नहीं थी। वे सब ही कह गये हैं, कि—इन्द्रियां हमें जितना कुछ प्रत्यक्ष अनुभव करा सकती हैं, हमने उनकी अपेक्षा बहुत उच्चतम सत्य का अनुभव किया है और दूसरों को उसकी परीक्षा के लिए आव्हान करते हैं। वे निष्काम संसार हितकामी सन्तगण कह गये हैं, कि तुम एक निश्चित साधन प्रणाली को लेकर एकनिष्ठ होकर साधन करते रहो। इतना करने पर यदि इस उच्चतर सत्य को प्राप्त न कर

सको, तो तब कह सकते हो, कि इस उच्चतर सत्य में मनुष्य के लिये आवश्यक कुछ भी नहीं है। किन्तु ऐसा करने के पहिले हमारी (निष्काम सन्तों की) वाणियों की सत्यता बिल्कुल ही न मानना किसी तरह भी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। इसीलिए हमारी निश्चित साधना प्रणाली का अनुसरण कर साधन करना आवश्यक है, फिर अवश्य ही उस ज्ञानोज्वल परम सत्य की प्राप्ति होगी।

किसी भी ज्ञान को प्राप्त करने के लिए हम सामान्यीकरण की सहायता लेते हैं, और फिर हमें इसके लिए भिन्न २ घटनाओं की आलोचना करने की आवश्यकता होती है। हम पहिले विभिन्न घटनाओं का पर्यवेक्षण करते हैं, फिर उनका सामान्यीकरण करके, फिर उससे अपने सिद्धान्त वा मतामत पर पहुँचते हैं। हम जब तक अपने मन के भीतर क्या हो रहा है, और क्या नहीं हो रहा है, इसको प्रत्यक्ष न करलें, तब तक हम अपने मनके विषय में, मनुष्य की भीतरी प्रकृति के विषय में, मनुष्य की विचार धारा के विषय में, कुछ भी नहीं जान सकते। बाह्य जगत् (बाहिरी दुनिया) की बातें जान लेना बहुत सहज बात है। इसलिए प्रकृति के प्रत्येक भाग का अनुसन्धान करने के लिये सैकड़ों यन्त्र बने हैं, परन्तु अन्तर्जगत् (भीतरी दुनिया) के व्यापार जानने में सहायता कर सकने वाला ऐसा एक भी यन्त्र नहीं है। किन्तु इस पर भी हम यह निश्चय पूर्वक जानते हैं,

कि किसी बात के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उसका पर्यवेक्षण करना आवश्यकीय होता है। विश्लेषण कर देखने के बिना विज्ञान निरर्थक व निष्फल होकर केवल अनुमान मात्र में समाप्त हो जाता है। इसीलिए ही जिन सब मानसतत्व को ढूंढ निकालने वाले मनीषियों ने मनस्तत्व का पर्यवेक्षण करने का उपाय जाना है, उनके अतिरिक्त और २ सब ही चिरकाल से लेकर केवल वाद विवाद मात्र करते हैं और असलि तत्व की बात जानते कुछ भी नहीं है। राजयोग विद्या सबसे पहिले मनुष्य (साधक) को उसके अपने अन्तर्हृदय का पर्यवेक्षण करने का उपाय दिखा देती है। मन ही मनस्तत्व के पर्यवेक्षण का एक मात्र यन्त्र है। मनुष्य की एकाग्रता शक्ति जब यथार्थ में ही स्थिर रूपसे अन्तर्जगत में प्रवेश कर जाती है, तबही वह मन के प्रत्येक अंगप्रत्यंग को विश्लेषण और मनस्तत्व को आलोकित (प्रत्यक्ष) कर देती है। उद्भासित (प्रखर या चमचमाति हुई प्रबल) प्रकाश की किरणों के इधरउधर गिरने पर उसकी जैसी अवस्था होती है, हमारे मन की शक्तियां भी उसी तरह की होती हैं (मन की सब शक्ति के केंद्रिभूत (एकत्रित) होने पर ही वह समस्त रहस्य को प्रकाशित कर देती है; यह ही हमारे ज्ञान की एक मात्र जड़ है। चाहे अन्त-र्जगत हो या बाह्य जगत् में हो सब के सब इस शक्ति के सहारे ही अनुसन्धान में प्रवृत्त होते हैं; परन्तु इस पर भी वैज्ञानिक (साइन्टिफिक्) जिसको बाह्यजगत् में प्रयोग करते हैं, मनस्तत्वान्वेषि को यह ही

मन के ऊपर प्रयोग करना होता है। इसके लिए बहुत अधिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। क्योंकि बचपन से ही हमें केवल बाहरि वस्तुओं में ही विचार करने की शिक्षा मिलती है। अन्तर्जगत के विषय में विचार करने की अणुमात्र भी शिक्षा नहीं मिली होती। इसके अतिरिक्त हमारे में से बहुतों ने इस भीतरी यन्त्र की पर्यवेक्षण शक्ति खो दी है। मनोवृत्तियों को अन्तर्मुखि करना, उसकी बहिर्मुखि गति को रोकना, जिससे वह अपने स्वभाव को जान सके, अपने को विश्लेषण (जुदा २) कर देख सके, इसके लिए उसकी समस्त शक्ति को एकत्रित कर उसका मन के ऊपरही प्रयोग करना बहुत कठिन काम है। परन्तु इस विषय में वैज्ञानिक बुद्धि से अग्रसर होने के लिए, यह (ऊपर बताया गया) ही एक मात्र उपाय है।

अब यहां पर प्रश्न उठ सक्ता है, कि इस प्रकार के ज्ञान की मनुष्य जीवन में क्या आवश्यक्ता है? इसका सबसे पहिला उत्तर तो यह है, कि ज्ञान ही ज्ञान का सबसे उत्तम पुरस्कार है। दूसर में इसकी उपयोगिता भी है--और वह यह है, कि इसके द्वारा मनुष्यजीवन के समस्त दुःखद्वन्द दूरहो जायेंगे। जब मनुष्य अपने मनका विश्लेषण कर पाता है, तब उसके सामने एक ऐसी वस्तु उपस्थित हो जाती है, जिसका किसी समय भी नाश नहीं होता—जो अपने स्वाभाविक गुण से नित्य पूर्ण व नित्य शुद्ध है; तब इस परम वस्तु के प्राप्त होने के अनन्तर वे दुःखी नहीं होते, और निरानन्द भी नहीं होते। निरानन्द, भय व अपूर्ण वासना

से ही समस्त दुःख होते हैं। ऊपर बताई अवस्था होने पर मनुष्य को पूर्ण ज्ञान होजाता है, कि उसकी किसी समय भी मृत्यु नहीं है, वह जरा मरण भय रहित है, बस तब फिर उसको मृत्यु का भय नहीं रहता। अपने को परिपूर्ण स्वरूप जान लेने पर फिर असार वासनायें भी नहीं रहने पातीं। ऊपर बताये दोनों कारणों के अभाव होते ही फिर कोई दुःख द्वन्द नहीं रहने पाता; वल्कि इसके विपरीत इसी शरीर में ही वह परमानन्द को प्राप्त कर जाता है।

एकमात्र उपाय से ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है और उसका नाम एकाग्रता है। रसायन तत्व के अन्वेषक अपने परीक्षागार (लैबरेटरी) में जाकर, वहां अपने मन की समग्र शक्ति को एकाग्र करके, वह जिस जिस वस्तु का विश्लेषण करता है, उसके ऊपर प्रयोग करता है, और इस तरह करते रहने से वह उस वस्तु के सारे बाहरी रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ज्योतिर्विद अपने मन की समस्त शक्ति को एकत्रित करके उसको दूरवीक्षण (दुरबीन) के बीच से आकाश में गाड़ता है, और इसके साथ ही तारा, सूर्य, चन्द्र आदि ये सब के सब सौर जगत के ग्रह उपग्रह अपने अपने रहस्य (गुप्तभेद) को उसके पास प्रकट कर देते हैं। मैं यहां पर जिस विषय (आत्मसाक्षात्कार) की बात कह रहा हूं, उसमें हम मन को जितना ही एकाग्र कर लगायेंगे, उतना ही इस विषय का रहस्य हमारे पास प्रकट होजायगा। तुम मेरी बात सुन रहे हो, बस तुमभी इस बात की ओर जितना

मनको एकाग्र करोगे, उतनी ही मेरी इस बात को अच्छी तरह समझ सकोगे ।

मन की एकाग्रता शक्ति के अतिरिक्त और किस तरह संसार में यह सब ज्ञान प्राप्त हुआ है ? प्रकृति का दरवाजा खटकाना जान लेने पर, प्रकृति अपना रहस्य खोल देती है; और यह प्रकृति के दर्वाजे को खटखटाने की शक्ति वा तेज भी इस एकाग्रता से ही प्राप्त होता है । मनुष्य के मन की शक्ति की कोई हद नहीं है, यह जितनी ही एकाग्र होगी, उतनी ही यह शक्ति एक लक्ष्य के ऊपर आजायेगी, और यह ही एक रहस्य कीबात होगी ।

यह हम पहिले ही कह आये हैं, कि मनको वाहिरि विषयों में स्थिर करना, अपेक्षा से सहज है । क्योंकि मन स्वभाव से ही वहिंर्मुखि हुआ करता है । किन्तु धर्म, मनोविज्ञान, अथवा दर्शन शास्त्र के विषय में ज्ञाता व ज्ञेय (विषयी व विषय) ही एक है । यहांपर प्रमेय एक भीतरी वस्तु है, और मन ही वह प्रमेय है । मन स्तत्व को ढूंढ निकालना ही यहां पर प्रयोजन है, और मन ही मन को पर्यवेक्षण करने का कर्ता है । हम जानते हैं, कि मन में एक ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा वह अपने भीतर जो कुछ हो रहा है, उसको देख सकता है । मैं तुम्हारे साथ बात कर ता हूं, और इसी समय ही जान रहा हूं, कि मैं बाहर से खड़ा हूं अर्थात् ऐसे जैसे कि मैं और एक और दूसरा कोई आपस में बात करते हैं, और जो कुछ कह रहे हैं, वह सुन रहे हैं । तुम एक समय

में काम और विचार दोनों ही करते हो, परन्तु तुम्हारे मन का एक भाग जैसे बाहर खड़ा होकर, तुम जो कुछ विचार रहे हो, उस को देख रहा है। मन की इस सब शक्ति को एकत्रित करके मन के ऊपर ही प्रयोग करना होगा। जैसे सूर्य की तेज किरण के सामने बहुत ही अंधेरा स्थान भी, अपनी गुप्त बात को प्रकट कर देते हैं, उसी प्रकार यह एकाग्रमन अपने भीतरी सब रहस्यों को प्रकट कर देगा। तब हम विश्वास की यथार्थ भूमि में पहुँच जायेंगे। उसी समय हमें यथार्थ धर्म की प्राप्ति हो जायेगी। तब ही आत्मा है या नहीं, जीवन केवल यह सामान्य जीवित काल ही पर्याप्त है अथवा अनन्त काल व्यापि है, और ईश्वर नाम की कोई सत्ता है या नहीं, इसको हम स्वयं देख सकेंगे। यह सब का सब ही हमारी ज्ञानचक्षु के सामने उद्भासित (प्रकट) हो जायेगा। राजयोग विद्या हमें इसी बात की शिक्षा देने के लिए अग्रसर होती है। इसमें जितने भी उपदेश हैं, उन सब का उद्देश्य सबसे पहिले मनको एकाग्र करना, फिर इसके बाद उसके भीतर कितनी प्रकार के भिन्न २ काम हो रहे हैं, इसको जानना, फिर इसके उपरान्त उसके बीच में सब साधारण सत्य—नियमों का अविष्कार करके, उससे मूल सिद्धान्त में पहुँचना है। इसीलिए राजयोग विद्या सीखने के लिए, तुम्हारा धर्म चाहे कुछ भी हो—तुम आस्तिक होवो, नास्तिक होवो, यहूदि होवो, बौद्ध होवो या ख्रीष्टान होवो—इससे कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं। बस इसके लिए तो इतना ही यथेष्ट है, कि तुम मनुष्य हो। प्रत्येक मनुष्य को

ही ईश्वर तत्व के अनुसन्धान (आत्म साक्षात्कार) करने की शक्ति मौजूद है, और उसका उसमें अधिकार भी है। प्रत्येक व्यक्ति का ही, चाहे कोई भी बात क्यों न हो, उसका कारण जानने का अधिकार है, और उसमें यह भी शक्ति है, कि वह अपने भीतर से ही इन प्रश्नों का उत्तर पा सकता है। परन्तु यह बात अवश्य है, कि इसके लिए उसको कुछ कष्ट जरूर स्वीकार करना पड़ेगा।

अबतक हमने देखा, कि इस राजयोग के साधने में किसी प्रकार के अन्धविश्वास की आवश्यकता नहीं होती। जब तक स्वयं प्रत्यक्ष न कर सको, तब तक कुछ भी विश्वास न करना, राजयोग यह ही शिक्षा देता है। सत्य को प्रकट करने के लिए और किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। तुम क्या यह कहना चाहते हो, कि जाग्रत् अवस्था की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए स्वप्न अथवा कल्पना अवस्था की सहायता की आवश्यकता होती है? परन्तु कभी भी ऐसा नहीं होता। सिर्फ इस राजयोग को अभ्यास करने के लिए दीर्घकाल व निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है। इसका कुछेक भाग तो शरीर के संयम को बताता है। परन्तु इसपरभी इसका अधिकांश भाग मन को संयम करने की शिक्षा देने वाला है। हम क्रमशः आलोचना करते हुए समझ सकेंगे, कि मन और शरीर का आपस में कैसा और कितना संबन्ध है। यदि हम विश्वास करें, कि मन केवल शरीर की सूक्ष्म अवस्था मात्र है,

और मन शरीर के ऊपर कार्य करता है। इस सत्य के ऊपर यदि हमारा विश्वास हो, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा, कि शरीर भी मन के ऊपर अपना प्रभाव करता है। क्योंकि शरीर के अस्वस्थ होने पर मन भी अस्वस्थ हो जाता है, और शरीर के स्वस्थ रहने पर मन भी स्वस्थ व बलवान रहता है। जिस समय किसी आदमी को क्रोध (गुस्सा) चढ़ा हुआ होता है, उस समय उसका मन अस्थिर हुआ होता है; और मन की अस्थिरता (बेचैनी) में शरीर भी बिल्कुल अस्थिर हो जाता है। अधिकांश मनुष्यों का मन शरीर के बिल्कुल आधीन होता है, और वास्तव में, तो उनके मन की शक्ति बहुत ही थोड़े परीमाण में विकसित (उबढ़ि) होती है। अधिकांश मनुष्य ही पशुओं से बहुत ही थोड़े उन्नत हुआ करते हैं। यह बात जो मैं कह गया हूं, इसका आप अपने मनमें कुछ विचार न करें। यह ही नहीं, बल्कि बहुत जगह सामान्य पशु पक्षियों की अपेक्षा उन (मनुष्यों) में सहन शीलता बहुत ही कमदेखने में आती है; हममें मन को निग्रह (एकाग्र) करने की शक्ति बहुत ही कम है। इसलिए मनके ऊपर इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए या शरीर व मन के ऊपर प्रभाव विस्तार करने के लिए, हमें कुछ बाहरि साधनों की आवश्यक्ता हुआ करती है। इन साधनों से शरीर जब बिल्कुल संस्कृत (शुद्ध) हो जाता है, तब ही मन को अपनी इच्छाके आधीन चलाने की चेष्टा की जा सकती है। इस प्रकार मनको अपनी इच्छा के आधीन चला सकने पर हम उसको अपने वश

में करने को समर्थ हो सकेंगे, और अपनी इच्छा के अनुसार इसको एकाग्र कर सकेंगे।

राजयोगी के मत में यह सब का सब बहिर्जगत् (बाहिरि दुनिया) सूक्ष्मजगत् का एक स्थूल विकाश (रूप) मात्र है। इसलिए राजयोग विद्या में सब जगह ही सूक्ष्म को कारण और स्थूल को कार्य जानना चाहिए। इस नियम से बहिर्जगत् कार्य और सूक्ष्म जगत कारण होता है। इसी हिसाब से ही स्थूल जगत् में दिखाई देने वाली शक्तियां आभ्यन्तरिक सूक्ष्म शक्ति का एक स्थूल भाग मात्र है। जो इस आभ्यन्तरिक शक्ति को चलाना सीख गये हैं, वे समस्त प्रकृति को अपने वश में कर सकते हैं। योगी समस्त संसार को वश में करना और समग्र प्रकृति, पर अपनी क्षमता (अधिकार) विस्तार करने को ही अपना कर्तव्य समझते हैं। वे ऐसी एक अवस्था (भूमिका) में पहुँचना चाहते हैं, जहां प्रकृति के संबंधी सब नियम उसके ऊपर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सके, अथवा जिस अवस्था में पहुँचने पर वे इन सब (प्रकृति के नियमों) को लांघ कर पार चले जा सकते हैं। तब वे भीतरी व बाहरि सब प्रकृति पर अपना प्रभुत्व जमा लेते हैं। मनुष्य जाति की उन्नति व सभ्यता, इस प्रकृति को वशमें करने की शक्ति पर निर्भर करती है।

इस प्रकृति को वश में करने के लिए भिन्न भिन्न जातियां जूदि २ विधियों का अनुसरण करती हैं। जैसे दो मनुष्यों में देखा जाता है, कि कोई बाहरि प्रकृति को और कोई भीतरी प्रकृति को वशमें करने की चेष्टा करता है; इसी तरह पर भिन्न २ जातियों में कोई २ जाति बाहरि और कोई २ जाति भीतरी प्रकृति को वश में करने की चेष्टा करती है। किसी के मत में अन्तः प्रकृति को वश में करने से ही सबका सब वश में हो जाता है, और किसी २ की समझ के अनुसार बाह्य प्रकृति को वश में करने से ही सबका सब वश में हो जाता है। इन दोनों के सिद्धान्तों के चरम (अन्तिम) भाव को लक्ष करने से ऐसा मालूम होता है, कि ये दोनों सिद्धान्त ही सत्य हैं। क्योंकि वास्तव में बाहरि और भीतरी इस तरह का कोई भेद नहीं है। यह एक कल्पित (मन गढंत) भेद मात्र है। इस प्रकार के भेदों का अस्तित्व ही नहीं है, और कभी था भी नहीं। क्योंकि ऊपर बताये हुए बहिर्वादि व अन्तर्वादि ये दोनों ही जब अपने २ ज्ञान की अन्तिम सीमा पर पहुँचेंगे, तब एक ही स्थान पर पहुँचेंगे ही पहुँचेंगे। जैसे बहि विज्ञानवादि अपने ज्ञान की अन्तिम सीमा पर पहुँच जानेपर, अन्त में उसको दार्शनिक होनाही पड़ेगा, इसीतरह दार्शनिक को भी देखेंगे, वे मन व भूत (पंच महाभूत) कह कर जो दो भेद करते हैं, वह वास्तव में कल्पना मात्र है उनका यह भेद एकदिन बिल्कुल ही मिट जायेगा।

जिससे यह नाना रूप सृष्टि उत्पन्न हुई है, जो एक पदार्थ इस तरह बहुरूप से प्रकाशित हुआ है, उस एक पदार्थ का निर्णय करना ही सारे विज्ञान का मोक्ष (अन्तिम) उद्देश्य व लक्ष्य है। राजयोगियों का कहना है, हम पहिले अन्तर्जगत् का ज्ञान प्राप्त करेंगे, फिर उसके द्वारा ही बाह्य व अन्तर इन दोनों प्रकृतियों को वशीभूत करेंगे। प्राचीन काल से ही लोग इस बात की चेष्टा करते आरहे हैं। यद्यपि भारतवर्ष में इस बात की विशेष चर्चा हुई है किन्तु और २ जातियों ने भी इस ओर कुछ २ चर्चा की थी। पाश्चात्य प्रदेश (इंग्लैंड) के लोग इसको रहस्य या गुप्तविद्या समझते थे, और जो इसका अभ्यास करना आरम्भ करते थे उनका डाइन, जादुगर इत्यादि नाम देकर जलाया जाता अथवा मार दिया जाता था। भारतवर्ष में विविध कारणों से यह विद्या ऐसे लोगों के हाथमें पड़ी, कि जिन्होंने इसविद्या का सैकड़े पीछे नब्बे भाग नष्ट करके, और बचे हुए भाग को बहुत गुप्त रखने की चेष्टा की थी। आज कल भारत वर्ष के पुरार्चीन गुरुओं की अपेक्षा बहुत ही निकृष्ट गुरु नाम धारी कुछ व्यक्ति दिखाई देते हैं; भारतवर्ष के गुरुगण फिर भी कुछ न कुछ जानते थे, परन्तु ये तो कुछ भी नहीं जानते।

इस सब योग प्रणाली में गुह्य व गुप्त जो कुछ है, वह सब का सब छोड़ देना होता है। जो कुछ बल प्रदान करते हैं, उस का ही अनुसरण करना पड़ता है, धर्म के विषय में भी वैसे ही करना होता है। जो तुम्हें दुर्बल करता हो, वह बिल्कुल छोड़

देना चाहिए। चमत्कार देखने की इच्छा ही मनुष्य के मस्तिष्क को सबसे अधिक दुर्बल करने वाली होती है। इन सब बातों को गुप्त रखने से ही योगशास्त्र प्रायः बिल्कुल ही लोप हो गया है; ऐसा कहना ही पड़ेगा। परन्तु वास्तव में यह एक महान् विज्ञान है। प्रायः चार हजार वर्ष पहिले इसका आविष्कार हुआ था। उस समय से लेकर भारतवर्ष में इसका नियम पूर्वक वर्णन व प्रचार होता आ रहा है। परन्तु इसमें आश्चर्य तो यह है, कि, इसके टीकाकार जितने ही आधुनिक (नये) हैं, उनका भ्रम भी उतने ही परिमाण में अधिक है। लेखक जितने ही प्राचीन हैं, उन्होंने उतनी ही अधिक न्याय सङ्गत बात कही है। आधुनिक लेखकों में से बहुतों ने विविध प्रकार के रहस्य व अजनबी बातों का वर्णन किया है, इसी तरह जिनके हाथ में यह (विद्या) पड़ी, उन्होंने इसकी सब की सब क्षमता अपने हाथ में रखने के लिए इसको बहुत गोपनीय वा अजनबी बना रखा है,, और मुक्तिरूप प्रकाश पुञ्ज को वे इसमें पड़ने ही नहीं देते।

हम पहिले ही कह आये हैं, मैं जो कुछ बता रहा हूं इसके भीतर गुप्त बात कुछ भी नहीं है। इसमें से जो कुछ थोड़ा बहुत मैं जानता हूं, वह तुम्हें बता देने के संकल्प से ही यह लिख रहा हूँ। इसको जहां तक युक्ति द्वारा समझाया जा सकेगा, वहीं तक युक्ति पूर्वक समझाने की चेष्टा करूंगा। किन्तु मैं जो कुछ समझ नहीं सकता उसके विषय में स्पष्ट कह दूंगा "शास्त्र इस को इस तरह से वर्णन करते हैं,,। अन्ध विश्वास करना एक

मात्र अनर्थ है; बल्कि प्रत्येक विषय का तथ्य अनुसन्धान करने में अपनी विचार शक्ति व युक्ति को लगा देना चाहिए; उसको प्रत्यक्ष अनुभव करके देखना चाहिए, कि शास्त्र में जो कुछ लिखा हुआ है, वह सच है या नहीं। जड़ विज्ञान को सीखने के लिए जैसे ही नियम बद्ध एकाग्र होकर सीखना पड़ता है, ठीक उसीतरह से मनोयोग पूर्वक इसधर्म विज्ञान को सीखनाचाहिए। इसमें गुप्त (छिपा) रखने की कोई बात नहीं है, और किसी तरह की विपत्ति की भी आशङ्का नहीं है, इसमें जहां तक सत्य है; उसको सबके सामने खुले मैदान स्पष्ट भाषा में प्रगट कर देना ही ठीक है। किसी तरह इन सब बातों को गुप्त करने से अनेक तरह की विपत्तियां उत्पन्न होती हैं।

सांख्य दर्शन का मनो विज्ञान—और आगे लिखने के पहिले, हम यहां पर सांख्य दर्शन के विषय में कुछ संक्षेप से कहेंगे। क्यों कि इस सांख्य दर्शन के ऊपर ही इस राजयोग विद्या कि स्थापना हुई है। सांख्य दर्शन के मत में, किसी भी विषय (वस्तु) का ज्ञान, उस वस्तु के साथ चक्षु आदि यन्त्रों के संयोग से होता है। चक्षु आदि यन्त्र, उसको इन्द्रियों के पास भेज देते हैं; इन्द्रियां मनके पास, और मन उसको निश्चयात्मिका बुद्धि के पास पहुंचा देती है; तब पुरुष वा आत्मा उसको ग्रहण करते हैं; फिर वह पुरुष पुनर्वार जिस प्रकार जिस जिस सोपान परम्परा से वह (विषय) उसके पास पहुंचा था, उन्हीं के बीच में से उसको लौट जाने की आज्ञा करता है। इस परम्परा से हमें विषय का ज्ञान हुआ करता है।

जान रखना, इन आत्मदेव के अतिरिक्त और सब पदार्थ जड़ होते हैं। परन्तु मन, चक्षु आदि बाहरि यन्त्रोंकी अपेक्षा बहुतसूक्ष्म भूतों से बना हुआ होता है। मन जिस सामग्रि से बना हुआ है, उसके क्रमशः स्थूलतर होने पर तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। उसके और अधिक स्थूल होने पर परिदृश्यमाण (चर्मचक्षु) से दिखाई पड़ने वाले (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) भूतों की उत्पत्ति होती है। बस सांख्य के मनोविज्ञान का सार यही है। इसलिए बुद्धि व स्थूल भूतों में फरक केवल तन्मात्राओं के तारतम्य का है। इनमें से एक मात्र पुरुष ही चेतन हैं। मन तो इस आत्म पुरुष के हाथ में एक यन्त्र के समान जैसे हुआ करता है। इसके द्वारा आत्मा बाहरि विषयों को ग्रहण करते हैं। मन शीघ्रही परिवर्त्तन शील (बदलने वाला) होता है, एक ओर से दूसरी ओर को दौड़ता है, और कभी कभी इन्द्रियों के साथ भी संलग्न रहता है। मानलो, जैसे मैं एक घड़ी के शब्द को ध्यान देकर सुन रहा हूं; ऐसी दशामें मेरे नेत्र उघड़े होने पर भी मैं उनसे उस समय कुछ भी नहीं देख सकता। इससे स्पष्ट ही मालूम हो जाता है, कि मन यद्यपि श्रवण इन्द्रिय (कान) के साथ संलग्न था, परन्तु दर्शनेन्द्रिय (आंखों) के साथ लगा हुआ न था। इसी तरह मन एक ही समय सब इन्द्रियों में भी लगाहुआ रह सकताहै। इसके अतिरिक्त मनकी अन्तर्दृष्टि (भीतरकी तरफ फिरने) की शक्ती भी है। इसीलिए मन की इस शक्ति के सहारे ही मनुष्य अपने भीतर के गम्भीर से गम्भीर—तम स्थान तक को देख सकता है। इस

अन्तर्दृष्टि की शक्ति को प्राप्त करना ही योगी का सब से पहिला उद्देश्य होता है। मन की समस्त शक्ति को एकत्र करके, और उसको भीतर की ओर फिरा कर, भीतर क्या हो रहा है, इसको ही. वह. जानना चाहता है । इस में उसको अन्ध-विश्वास करने की कोई आवश्यकता नहीं होती । यह ज्ञानियों के भी प्रत्यक्ष व परीक्षाकर देखने की बात है । आधुनिक शारीर-तत्व वेत्ता पण्डितों का कहना है, कि आंख में यथार्थतः देखने का कोई साधन नहीं है; बल्कि इन्द्रियों की क्रिया कराने की शक्ति मस्तिष्क के भीतरी स्नायु केन्द्र में है । और सब इन्द्रियों के विषय में भी इसी तरह जानना चाहिए । उनका यह भी मत है, कि मतिष्क जिस चीज से बना हुआ है; ये केन्द्र भी ठीक उसी पदार्थ से बने हुए हैं । सांख्य मत वाले भी यही बताते हैं, परन्तु इसमें एक भेद यह है, कि इसमें से एक तो भौतिक विषय के अनुसन्धान में ही मस्त है, और दूसरा आध्यात्मिक विषय के विचार में लगा हुआ है । इस तरह होने पर भी, दोनों की ही एक बात है । हमें इसके भी परे वर्त्तमान (स्थित) राज्य की खोज करनी होगी ।

अपने शरीर के भीतर क्या हो रहा है, और क्या नहीं हो रहा है, योगी इस बात को जानने के उपयोगी अवस्था पाने की इच्छा करता है । मानसिक प्रक्रियाओं में मानस प्रत्यक्ष की आवश्यकता होती है । हमें समझ लेना चाहिए, कि विषय इन्द्रिय गोचर होते ही जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह

किस तरह स्नायु-सूत्रों के रास्ते घूमता है, मन किस तरह से उसको ग्रहण करता है, और किस तरह वह निश्चयात्मिका बुद्धि तक पहुँचता है, और किस तरह से वह चैतन्य पुरुष के पास पहुँचता है। प्रत्येक विज्ञान की शिक्षा की कुछ निश्चित प्रणालियाँ हुआ करती हैं; यह बात हम पहिले भी बता चुके हैं। किसी भी विज्ञान को क्यों न सीखो, पहिले हमें उसके लिए सब तरह से प्रस्तुत (तय्यार) होना पड़ेगा; फिर एक निश्चित प्रणाली का अनुसरण करना पड़ेगा। ऐसा न करने से उसको सीखने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है; राजयोग सीखना भी इसी तरह समझना चाहिए।

योगी को इसके लिए भोजन के विषय में कुछ नियम बांध देना आवश्यकीय होता है। जिससे मन बिल्कुल पवित्र रहे, ऐसा भोजन करना चाहिए। इसका अनुभव प्रत्यक्ष करने के लिए, यदि किसी पशुशाला में जाया जावे, तो आहार के साथ जीव का क्या सम्बन्ध है, यह स्पष्ट ही समझ में आजावेगा।

हाथी बहुत बड़ा शरीरधारी जीव होता है; परन्तु उसकी प्रकृति बिल्कुल शान्त होती है। हाथी से कई गुना छोटे सिंह या बघेरे के पिंजरे की तरफ जावो, तो देखोगे—वह पिंजरे में छटपटा रहा है। इससे समझ में आ जाता है, कि भोजन के तारतम्य के अनुसार जीवों की प्रकृति में कितना महान भेद हो जाता है। हमारे

शरीर में जितनी शक्तियां काम करती हैं, वे सबकी सब भोजन से उत्पन्न होती हैं; हम इस बात को प्रति दिन देख पाते हैं। क्योंकि यदि, तुम उपवास करना आरम्भ करो, तो तुम्हारा शरीर दुर्बल हो जावेगा; शारीरिक शक्तियां कमजोर होजायेंगी, कुछेक दिन के बाद मानसिक शक्तियों का भी ह्रास हो जायेगा। इसमें पहिले स्मृति (धारणा) शक्ति कम होगी, फिर इसके बाद उत्तरोत्तर एक ऐसा समय आ पड़ेगा, जब तुम विचार कर सकने को भी समर्थ न हो सकोगे—साधन करना तो दूर की बात रही। इसलिए साधना की प्रथम अवस्था में भोजन के विषय में विशेष लक्ष्य रखना चाहिये; फिर उत्तरोत्तर साधना में अग्रसर होने पर इतना कुछ सावधान न होने पर भी काम चल सकता है। जैसे जब तक वृक्ष छोटा रहता है, तब तक उसके चारों ओर बाड़ कर या दिवार बनाकर रखनी पड़ती है; यदि ऐसा न किया जाय, तो पशु उसको खाकर नष्ट कर सकते हैं। परन्तु उस वृक्ष के बड़ा होने पर फिर उसके चारों ओर की बाड़ या दिवाल की कुछ भी आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि तब वह इतना सबल हो जाता है, कि सब तरह के अत्याचारों को सहन कर लेता है।

योगी को अधिक विलासिता (आरामतलबी) व कठोरता इन दोनों को ही छोड़ देना चाहिए। उसको उपवास करना या शरीर को और किसी तरह कष्ट देना ठीक नहीं। इसलिए गीता में श्रीभगवान ने वर्णन किया है, जो कि अपने को अनर्थक

क्लेश देते हैं, वे कभी भी योगी नहीं हो सकते।

नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति-स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुनः॥
युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

अर्थात्—अधिक उपवास करने वाला, अधिक जागरण करने वाला, अधिक सोनेवाला, अधिक परिश्रम करने वाला, या बिल्कुल ही परिश्रम न करने वाला, इनमें से कोई भी योगी नहीं हो सकते; बल्कि जो नियम पूर्वक आहार, विहार, काम, काज, सोना, जागना आदि करते रहते हैं, उनको ही यह सब दुःख द्वन्द्व से मुक्त कराने वाले योग की सिद्धि होती है।
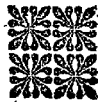
दूसरा-अध्याय
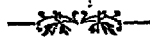
साधन का प्रथम सोपान (सीढ़ि)
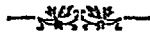
राजयोग के आठ अङ्ग हैं उनमें से पहिला (१) यम—अर्थात् अहिंसा वृत्ति से रहना, सत्य परायण होना, चोरि न करना, ब्रह्मचर्य धारण कर रहना और अपरिग्रह (किसी से दान आदि द्वारा कुछ प्राप्त न करना)। (२)—नियम—अर्थात् शुद्धता पूर्वक रहना, सन्तोष रखना, तपस्या (शीत उष्ण आदि को सहन करने का अभ्यास करना,) स्वाध्याय (अध्यात्म शास्त्र का पाठ करते रहना), व ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर में आत्म समर्पण करना। (३)—आसन—अर्थात् जिससे सुख पूर्वक घण्टों, दिनों या वर्षों तक अभ्यास के लिए निश्चिन्त होकर बैठा जा सके। (४)—प्राणायाम (आगे प्राणायाम प्रकरण में देखो)। (५)-प्रत्याहार—अर्थात् मन को अन्तर्मुखि करना। (६)—धारणा—अर्थात् मन की एकाग्रता। (७)—ध्यान। + (८) समाधि।— अर्थात् ज्ञानातीत अवस्था। इन आठों में से विचार पूर्वक हम देख पायेंगे, कि यम और नियम इन दोनों का उद्देश्य मनुष्य के चरित्र गठन से है; अर्थात् मनुष्य को सच्चरित्र वान बनाना

है। इन को भित्ति स्वरूप न रखने से, किसी तरह के योग का साधन ही सिद्ध न होगा। यम और नियम में पूरी सिद्धिप्राप्त कर लेने पर योगी को अपने साधन का फल अनुभव होने लगता है। इन के अभाव में साधना करने से कोई भी फल प्राप्त होने की सम्भावना कम रहती है। योगी शरीर मन व वाणी द्वारा किसी के प्रति भी कभी हिंसा का आचरण न करे। इसपर भी केवल मनुष्य के प्रति अहिंस व्यवहार करने से ही बस अपनी जुम्मेदारि पूरी होगई ऐसा न समझना चाहिए; बल्कि अन्य प्राणियों के प्रति भी जिससे हिंसा न रहे; दया केवल मनुष्य जाति पर ही परिमित न रहे; बल्कि वह और भी अग्रसर होकर सारे संसार के साथ संबद्ध हो जाय, यह बात साधक को विशेषतः समझ रखना चाहिए।

यम और नियम के साधन करने के अनन्तर आसन की बात लिखीगई है। यहांपर प्रश्नहो सकता है, कि आसन अभ्यास करने का उद्देश्य क्या है? इसका उत्तर यह है, कि जबतक खूब उच्चावस्था न प्राप्त की जाय, तबतक नियम पूर्वक साधन करना होता है। इस साधन में शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार की प्रक्रिया की आवश्यकता होती है; इस लिए देरतक निश्चल एक आसन से बैठा जा सके, ऐसे आसन की आवश्यकता होती है। जिसको जिस आसन से बैठने में सुभीता होवे, उसको वह आसन लगाकर बैठना चाहिए। एक मनुष्य को एक तरह के आसन में बैठकर ध्यान करना सहज हो सका है; परन्तु दूसरे के लिए उस

आसन से बैठने में बहुत कठिनाई हो सकती है। हम क्रमशः आगे देख पायेंगे, कि योग साधन के समय शरीर के भीतर विविध प्रकार की क्रियायें होती रहती हैं। स्नायुओं के भीतर जिन २ शक्तियों का प्रवाह निरन्तर दिनरात चलता रहता है, उनकी उस गति को उस रास्ते से फिराकर, उनको नये रास्ते से चलाना होगा; जिस समय यह काम किया जाता है, उस समय शरीर के भीतर एक नई तरह का कम्पन (हलचल) या क्रिया आरम्भ हो जाती है. सारा शरीर मानों दूसरी वार बन रहा हो यह क्रिया अधिकांश मेरुदण्ड (रीढ़) के भीतर होगी; इस लिए आसन के विषय में केवल इतना समझ रखना चाहिए, कि मेरु दण्ड को एक सीध में रखना आवश्यक होता है—इसके लिए ठीक सीधा होकर बैठना चाहिए, और वक्षदेश (छाति), गर्दन व मस्तक को सीधा रखना चाहिए; जिससे शरीर का सारा बोझ पंजर पर पड़े। छाति यदि नीचे को झुकी रहेगी; तो इससे किसी तरह का उच्च भाव विचार नहीं किया जा सकता; यह तुम सहजमें ही देख पाओगे राजयोग की यह भाग हठ योग के साथ अधिक मिलता है। हठ योग केवल स्थूल देह का विचार करने में ही व्यस्त लगा रहता है। क्योंकिइसका उद्देश्य केवलस्थूल देह को बलवान् करता है। हठ योग के विषय में यहां पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसकि क्रियायें बहुत कठिन हैं; और यह एक दिन में सीख भी नहीं सक्ते; और इससे अध्यात्मिक उन्नति भी नहीं हो पाती। इसकी अधिकांश क्रियायें डेलमार्ट व और २ आधुनिक व्यायामाचार्यों के ग्रन्थों

मे दिखाई देगा। उन्होंने भी शरीर को भिन्न २ भावसे रखने की व्यवस्था की है। परन्तु हठयोग के समान उनका भी उद्देश्य— केवल शारीरिक है, आध्यात्मिक उन्नति नहीं है। शरीर की ऐसी कोई पेसी नहीं है, जिसको हठ योगी अपने वशमें न कर सके; हृदी यन्त्र उन की अपनी इच्छा के अनुसार वन्द हो जाता है, और चल सकता है—शरीर का समस्त भाग ही वे अपनी इच्छा के अनुसार चला सकते हैं।

हठ योग का उद्देश्यः—मनुष्य किसी तरह दीर्घ जीवि हो सकता है, हठ योग का यह ही एक मात्र उद्देश्य है। किससे शरीर विल्कुल स्वस्थ रह सकता है, हठ योगी का यही एक मात्र लक्ष्य रहता है। हमें किसी तरह का रोग न होने पावे, हठ योगी का यह दृढ़ संकल्प होता है। इस दृढ संकल्प के कारण, उसको कोई रोग भी नहीं होता, और वह दीर्घ जीवी भी हो सकता है, सौवर्ष तक जीवित रहना, उसके लिए बहुत ही तुच्छ बात होती है, १५० वर्ष की आयु होने पर भी देखोगे उसका शरीर पूरा—युवा व बलावान् है; उसका एक बाल भी सुफेद नहीं हुआ है। परन्तु इसका फल केवल यहांतक ही रहताहै। बड़कावृक्ष भी कभी कभी ५००० वर्ष तक जीवित रहता है; परन्तु वह जैसा वड़ का वृक्ष था उसी सूरत में रहता है; अपनी उस दशा से एकरत्ति भर भी आगे उन्नति नही कर सकता। इसी तरह से हठ योगी भी दीर्घ-जीवि हो जाय; परन्तु इससे फ़ल कुछ भी नहीं निकलता; वस

केवल इतने महान्-परिश्रम का यह फल हुआ, कि वह एक स्वस्थ शरीर जीव गिना जा सकता है, इसपर भी हठ योगियों के दो एक साधारण उपदेश बहुत ही लाभ दायक हैं। जैसे—शिरमें दर्द होने पर, बिस्तर से उठते ही नाक से ठंडे पानी को पीना; इस से सारे दिन मस्तिष्क शीतल रहेगा, और कभी सर्दि न लगेगी। नाक से जल पीना कुछ कठिन काम नहीं, बल्कि बहुत ही सहज काम है। नाक को पानी में डुबाकर, उससे गले के भीतर पानी खींचो; क्रमशः जल अपने आप भीतर कीओर जायगा। (अमृत-पान नाम की पुस्तक देखिये)

आसन सिद्ध होने पर, किसी २ सम्प्रदाय के मत में नाड़ी शुद्धि करनी होती है। बहुत से राजयोग के अन्तर्गत न होने से, इसकी आवश्यता स्वीकार नहीं करते। परन्तु जबकि शंकराचार्य सरीखे भाष्यकारों ने इसका विधान किया है, तब हम को भी इसका उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। हम यहीं पर श्वेताश्वतर उपनिषद् के भाष्य से इस विषय में शंकराचार्य का मत उद्धृत करते हैं*। यथा—जिसका भावाशय इस प्रकार है—"प्राणायाम के द्वारा जिस के मनका मल धोकर साफ हो गया है, वह मन ही ब्रह्ममें स्थिर हो सकता है। इसलिए पहिले नाड़ी शुद्धि

* श्वेताश्वतर उपनिषद् का शङ्कर भाष्य।— प्राणायाम क्षयित मनोमलस्य चित्तं ब्रह्मणि स्थितं भवतीति प्राणायामो निर्दिश्यते। प्रथमं नाड़ीशोधनं कर्त्तव्यं। ततः प्राणायामेऽधिकारः।

करनी चाहिए, तब ही प्राणायाम करने की शक्ति प्राप्त होती है। अंगूठे से नाक के दाहिने नथने को रोककर बायें नथने से यथा शक्ति वायु को भीतर खींचना चाहिए; फिर बीच में जरा भी विश्राम न लेकर बांया नथना बन्द करके दहिने नथने से वायु को बाहर छोड़ना चाहिए। फिर दूसरीवार दहिने नथने से वायु भीतर खींच कर और बायें नथने से बाहर छोड़दे। दिन रात में चारवार अर्थात् प्रातः उषाकाल, मध्यान्ह, सायंकाल व आधी रात के समय इन चार समयों में ऊपर लिखे क्रिया तीनवार या पांचवार अभ्यास करने से एक पक्ष या एक महीने के भीतर नाड़ी शुद्धि हो जाती है, इसके बाद प्राणायाम करने का अधिकार होता है।

निरन्तर अभ्यास करनेकि अवश्यकता होती है। यदि तुम प्रतिदिन घंटों तक बैठकर हमारी बातें सुनते रहो, परन्तु उन उपदेशों के अनुसार अभ्यास न करने से तुम एक बिन्दु प्रमाण भी आगे उन्नति नहीं कर सकते। प्रत्येक विषय में अभ्यास

दक्षिण नासापुट मङ्गुल्यावष्टभ्य वामेन वायुं पूरयेद् यथाशक्ति। ततोनन्तर मुत्सृज्यैव दक्षिणेन पुटेन समुत्सृजेत्। सव्यमपिधारयेत्। पूर्वं दक्षिणेन पूरयित्वा सव्येन समुत्सृज्येत्—यथा शक्ति। त्रिपञ्च कृत्वो वैवमभ्यसतः, सवन-चतुष्ट्य मपररात्रे मध्याने, पूर्वरात्रे ऽर्द्ध रात्रे च पक्षा—न्मासाद्विशुद्धि र्भवति। श्वे० २ अ० ८ श्लो० शां०भाष्य।

से ही उन्नति हो सकती है। प्रत्यक्ष अनुभूति न होने से ये सब तत्व समझ में नहीं आ सकते। इन बातों का स्वयं अनुभव करना होगा, केवल उपदेश सुनने मात्र से कुछ भी काम नहीं चलेगा। साधना करते समय बहुत से विघ्न उपस्थित होते हैं। यथा-(१) **बीमार पड़ जाना**—शरीर के स्वस्थन रहनेपर साधना करने में विघ्न होता है इस लिए शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक होता है, किस प्रकार का खान पान करके, किस प्रकार जीवन निर्वाह करना होगा, इनसब बातों की ओर विशेष ध्यान रखना आवश्यकीय होता है। मन में इस भावना को दृढ़ करना चाहिए; कि मेरा शरीर बलवान रहे। इस को "क्रिश्चियन सायन्स,; कहते हैं* । शरीर के लिए और कुछ भी करने की आवश्यक्ता नहीं

*Christian Science—यह एक प्रकार का आधुनिक नवीन मत है यह मिसेस ब्राडे न.मक एक अमेरिकन महिलाने आविष्कार किया है इस मतमें संसार में जड़ वस्तु कुछ भी नहीं है; किसी वस्तु को जड़ मानना यह हमारे मनका एक भ्रम मात्र है। यदि दृढ़ विश्वास करलो, कि मेरे कोई रोग नहीं है, तो इससे तुम शीघ्र ही रोग मुक्त हो जाओगे। इसका क्रिश्चयन सायन्स होने का कारण यह है, कि इस मत के मानने वालों का कहना है कि "हम खृष्ट के ठीक २ पदानुसरण करते हैं। खृष्ट ने जो सब अद्भुत-क्रियायें की थी, हम भी उन सबको कर सकते हैं, और सब तरह से निर्दोष जीवन बिताना ही हमारा उद्देश्य है।,,

होती। हमें यह कभी भी भूलना न चाहिए, कि स्वस्थ शरीर मुक्ति प्राप्त करने के लिए—जो हमारा सबसे मुख्य उद्देश्य है + यह उसका एक सहाय मात्र है। यदि स्वास्थ्य ही हमारा अन्तिम लक्ष्य होता, तवतो हम पशुओं के समान होते। क्योंकि पशु प्रायः अस्वस्थ नहीं होते।

दूसरा विघ्न—सन्देह है; हम जिनको देख नहीं सक्ते, उन सब बातों में सन्दिग्ध हो जाते हैं। मनुष्य कितनी ही चेष्टा क्यों न करें, केवल बातों के ऊपर निर्भर करके वह कभी भी निसन्देह नहीं हो सक्ता! इसी लिए योग शास्त्र की बातों की सत्यता में सन्देह हुआ करता है। यह सन्देह बहुत भले लोगों को भी होते देखा गया है। परन्तु साधन करना आरम्भ करने पर थोड़े दिनों के भीतर ही कुछ २ अलौकिक बातें देखने में आवेंगी और तब साधना के विषय में तुम्हारा उत्साह बढ़ जायेगा।" योग शास्त्र की सत्यता के विषय में यदि बहुत ही साधारण से साधारण प्रमाण भी मिल जाय, तो उससे ही योग शास्त्र के ऊपर विश्वास होने लगेगा।" और भी कुछ दिन तक साधन करने पर देख पाओगे, कि तुम दूसरे के मन की बात समझ सकते हो, वे बातें तुम्हारे पास चित्र के आकार में आवेंगी। यहां तक कि बहुत दूरी पर कोई शब्द या बात चीत हो रही हो, मन को एकाग्र कर सुनने की चेष्टा करने से ही, वह सुन सकोगे। इसमें यह बात अवश्य है, कि पहिले पहल ये सब बातें बहुत थोड़ी थोड़ी ही

देख पावोगे। परन्तु इससे ही तुम्हारी साधना के प्रति विश्वास, बल व आशा बढ़ जावेगी। मानलो जैसे, तुमने नाक के अग्रभाग में मन का संयम करने पर, इससे थोड़े दिन में ही तुम दिव्य सुगन्ध सूंघ सकोगे, इससे ही तुम समझ सकोगे, कि हमारा मन कभी २ विभिन्न वस्तुओं के संस्पर्श में न आकर भी उसको अनुमान कर सका है। परन्तु यह बात हमेशा स्मरण रखना चाहिए, कि इन सिद्धियों का साधना में विश्वास बढ़ाने के अतिरिक्त और कुछ भी मूल्य नहीं है, बल्कि यह हमारे प्रकृत कार्य के साधन में सहाय मात्र है। हमें और भी स्मरण रखना चाहिए, कि इन सब साधनों का केवल लक्ष (एक मात्र उद्देश्य) आत्मा की मुक्ति है। प्रकृति को बिल्कुल अपने आधीन करना ही हमारा एक मात्र लक्ष होना चाहिए, इसके अतिरिक्त और कुछभी हमारा यथार्थ लक्ष्य नहीं हो सका। सामान्य सिद्धि आदि से सन्तुष्ट होजाने पर काम न चलेगा। हम ही प्रकृति के ऊपर शासन करेंगे प्रकृति को अपने ऊपर प्रभुत्व करने न देंगे। शरीर व मन ये कोई भी जिससे हमारे ऊपर प्रभुत्व न कर सकें, और यह भी हमें भूलना न चाहिए, कि शरीर हमारा है हम शरीर के नहीं हैं।

दृष्टान्त—किसी समय एक देवता व एक असुर दोनों ही एक महात्मा के पास आत्म जिज्ञासु होकर गये थे। उन्होंने उस महात्मा के पास बहुत दिन तक रहकर शिक्षा पाई,। कुछ दिन के बाद उस महात्मा ने उनसे कहा तुम जिस

की खोज करते हो, "वह ही तुम हो"। उन्होंने समझा तब तो यह शरीर ही "आत्मा" है। तब वे दोनों कि "हमें जो कुछ चाहिये था, वह मिल गया है" यह विचार कर प्रसन्न चित्त होकर अपने अपने घर चले आये। वहां जाकर अपने २ इष्टमित्रों के पास कहा "जो कुछ सीखने पढ़ने को था, वह सब सीख कर आगये हैं; अब आओ खान; पान व आनन्द में उन्मत्त होवें; हम ही, तो वह आत्मा हैं; इसके अतिरिक्त और कोई महान् पदार्थ नहीं है"। उस असुर का स्वभाव अज्ञान रूपि अन्धकार पूर्ण था, इसलिए उसने इस विषय में और अधिक कुछ भी खोज नहीं की। अपने को ईश्वर समझ कर एकमात्र सन्तुष्ट होगया; उसने "आत्मा" शब्द से शरीर को समझा। परन्तु देवता का स्वभाव उसकी अपेक्षा पवित्र था, वह भी पहिले ऐसे ही भ्रम में पड़ गया था, कि आत्मा का अर्थ यह शरीर है, यह ही ब्रह्म है, इसलिए इसको बलवान व स्वस्थ रखना व सुन्दर २ कपड़े आदि पहिनना और सब तरह के शारीरिक सुखों का भोगना ही इति कर्तव्य है। परन्तु कुछ दिन बीतते ही उसको मालूम हो गया, कि गुरु जी के उपदेश का अर्थ यह नहीं है, कि देह ही आत्मा है, बल्कि देह की अपेक्षा भी और कोई वस्तु श्रेष्ठ है वह उसी समय गुरु के पास लौट आया, प्रश्न किया "हे गुरो! आपके वाक्य का तात्पर्य क्या यही है, कि शरीर ही आत्मा है,,? परन्तु यह कैसे हो सक्ता है;? जब कि देखता हूं कि यह शरीर काल की गति के अनुसार निरन्-

प्रति घनता विगड़ता जा रहा है, आत्मा का तो इस तरह परिव-र्त्तन नहीं होता ।,, आचार्य ने कहा,, तुम स्वयं इस बात का निर्णय करो, "तुम ही वह हो" । तव शिष्य ने समझा कि शरीर के भीतर जो "प्राणशक्ति" विराजमान है मालूम होता है, उसको लक्ष्य करके ही गुरु जी ने यह उपदेश दिया है । परन्तु उसको शीघ्र ही इसका भी अनुभव हो गया, कि भोजन करने पर प्राण सबल रहते हैं, और उपवास करने पर प्राण दुर्बल हो जाते हैं । तब फिर वह गुरु के पास जाकर बोला—"हे गुरो ! आपने क्या प्राण को ही आत्मा कहा है,, गुरु ने कहा "तुम स्वयं इसका निर्णय करो ?"तुमही वह हो"। उस उद्योगी शिष्य ने गुरुके पास फिर से आकर विचार करना आरम्भ किया—तब तो मन ही "आत्मा,, होगा। परन्तु शीघ्र ही समझ गया, कि मनो-वृत्तियां विविध प्रकार की होती हैं, क्योंकि मनमें कभी साधु-वृत्ति और कभी असाधु वृत्ति उठती है । मन इतना बदलने वाला है, कि वह कभी भी आत्मा नहीं हो सकता । तब फिर उस ने गुरु के पास जाकर निवेदन किया, कि क्या "मन ही आत्मा है, मुझे तो ऐसा नहीं प्रतीत होता, क्या आपने यह ही उपदेश किया है ?,, गुरु ने कहा । "तुम ही वह हो। तुम इसका स्वयं निर्णय करो । ,, इस बार वह देवपुंगव फिर एक बार लौट कर गया; और तब उसको यह ज्ञान हुआ, कि "मैं सारी मनोवृत्तियों के अतिरिक्त आत्मा हूं, मैं ही एक सब में विराजमान हूं; मेरा जन्म नहीं है, मृत्यु नहीं है, मेरे को तलवार काट नहीं सकती, अग्नि

जला नहीं सकती, वायू सुखा नहीं सकता, जल वहा नहीं सकता, मैं अनादि, जन्म रहित; अचल, अस्पर्श, सर्वज्ञ, और सर्व शक्तिमान पुरुष हूं। आत्मा शरीर व मन नहीं है, आत्मा इन सबसे ही परे है। इस प्रकार देवता न प्राप्त हुआ, और वह उस से प्राप्त आनन्द से तृप्त हुआ। परन्तु उस वेचारे असुर को इस परम आनन्द दायक सत्य की प्राप्ति न हुई; क्यों कि उसके शरीर व मनमें अत्यन्त विपया-शक्ति थी।

इस संसार में वहुत से असुर प्रकृति के लोग हैं, परन्तु देवता प्रकृति के विल्कुल ही नहीं हैं, यह बात भी नहीं है। यदि कोई कहे, कि आवो तुम्हे ऐसी एक विद्या सिखा देता हूं, जिससे तुम्हारा इन्द्रिय—सुख अनन्त गुना वढ़ जायेगा,, तो इसके लिए अनगिनत लोग उसके पास दौड़ पड़ेंगे। परन्तु यदि कोई कहे, कि "आवो तुम्हे जीवन का चरम लक्ष्य परमात्म साक्षात्कार का विपय सिखा दूं; तो कोई उसकी बात को न सुनेगा।

उच्च तत्व केवल थोड़ा वहुत सुनने मात्र की इच्छा वहुत ही थोड़े लोगों में पाई जाती है; और इस सत्य लाभ के लिए अध्यवशाय शील लोगों की संख्या तो विल्कुल नाही के वरावर ही है। परन्तु इस पर भी संसार में कुछेक ऐसे महापुरुष भी हैं, जिन की यह दृढ धारणा है, कि शरीर हजार वर्ष तक रहे या लक्ष वर्ष तक रहे; अन्त में तो इसकी वही एक गति है। जिन शक्तियों के सहारे यह मानव शरीर टिका हुआ है, उनके

क्षीण हो जाने पर यह शरीर भी न रहेगा एक क्षण भर के लिये भी शरीर के इस परिवर्तन को कोई भी रोक नहीं सकता। "शरीर" और क्या है ? यह कुछ नियमित परिवर्त्तन होनेवाले परमाणुओं की एक समष्टि मात्र है। नीचे बताये हुए नदी के दृष्टान्त से यह तत्त्व सहज में ही समझ में आजायेगा। तुम अपने सामने जो नदी में पानी देखते हो, यह देखो—क्षण भर में वह चला गया और उसके स्थान में और एक जल की लहर आगई। शरीर भी इसी तरह से क्रमशः परिवर्त्तनशील है। शरीर इस प्रकार परिवर्तन शील होने पर भी उसको स्वस्थ और बलवान रखना आवश्यक होता है। क्योंकि इसकी सहायता से ही हमें ज्ञान प्राप्त करना होता है। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

सब प्रकार शरीर धारियों में से मनुष्य शरीर ही सबसे श्रेष्ठ है; मनुष्य ही सब प्राणियों में श्रेष्ठ प्राणी होता है। मनुष्य सब प्रकार के उत्कृष्ट प्राणियों से—यहां तक कि देवता आदि उच्च योनियों से भी—श्रेष्ठ है। मनुष्य की अपेक्षा और श्रेष्ठ और कोई नहीं है। देवताओं को भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य शरीर धारण करना पड़ता है। केवलमात्र मनुष्य ही ज्ञान लाभ का अधिकारी होता है, देवता भी इस विषय से वंचित रहते हैं। यहूदि और मुसलमानों के मत में, ईश्वर ने देवता व और २ सब सृष्टि के अनन्तर मनुष्य सृष्टि निर्माण कर देवताओं को जाकर मनुष्यों को प्रणाम व अभिनन्दन करने के लिए कहा।

'इब्लिश" के अतिरिक्त सबने ही इस आज्ञा का पालन किया था, इसीलिए ईश्वर ने उसको शाप दिया, जिससे वह "शैतान" की सकल में बदल गया। इस रूपक के भीतर यह महान् सत्य छुपा हुआ है, कि संसार में मनुष्य का जन्म ही सबसे श्रेष्ठ जन्म है। पशु आदि तिर्यक योनि की सृष्टि तमोगुण प्रधान होती है। इसलिए पशु किसी उच्चतत्व को धारण नहीं कर सकते। देवता भी मनुष्य जन्म लिये बिना मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। देखो मनुष्य को आत्मोन्नति के लिए अधिक धन भी अनुकूल नहीं होता, और बिलकुल निर्धन रहने पर भी उन्नति नहीं कर सकता, संसार में जितने भी महात्माओं ने जन्म लिया है, वे सब मध्यम-श्रेणि के गृहस्थ से हुए हैं, क्योंकि मध्यम श्रेणि के परिवारों में सब (ऊंची और नीची श्रेणि के) परस्पर विरोधी शक्तियों का सामञ्जस्य बना रहता है।

अब अपने प्रस्तावित विषयपर आतेहैं। हमें अब 'प्राणायाम' के विषय में विचार करना है। देखना चाहिए चित्तवृत्ति के साथ प्राणायाम का क्या सम्बन्ध है। श्वास-प्रश्वास (सांस लेना और छोड़ना) शरीर रूपि यन्त्र की गति को नियन्त्रित करने वाला मूलयन्त्र (Fly wheel) है। एक बड़े इञ्जन की ओर देखने पर देख पाओगे, कि 'उसमें एक एक बड़ा चक्र (चक्कर) घूम रहा है, और उस चक्र की चाल क्रमशः छोटे से छोटे यन्त्र में संचारित हो (पहुँच) रही है। इस क्रम से, उस एञ्जिन से

बहुत छोटा से छोटा यन्त्र तक चलने लगता है। मनुष्य शरीर में श्वास-प्रश्वास यन्त्र इसी प्रकार का गति नियामक चक्र (Fly-wheel) है। यह भी इस शरीर में सब जगह जहां भी जिस किसी शक्ति की आवश्यकता होती है, उसको पहुँचाता है, और इस शक्ति को नियन्त्रित करता है।

दृष्टान्त—एक राजा का एक मन्त्री था, एक समय किसी कारण राजा ने उस पर अप्रसन्न होकर, उसको एक बहुत ऊंची दिवार वाले किले में सबसे ऊपर के कमरे में कैद कर दिया। मन्त्री उस एकान्त दुर्गम स्थान में कैद में रह कर मृत्यु की घड़ियां गिनने लगा। उस मन्त्री की एक पतिव्रता स्त्री थी, एक दिन रात के समय वह उस किले के पास आकर, किले के एक सिरे के कमरे में कैद किये हुए अपने पति को पुकार कर बोली, कि "मैं किस उपाय से आपको इस कैदखाने से छुड़ा सकती हूं, कोई उपाय हो तो बता दीजिये" मैं वही करूंगी, और आपको इस कैद से छुड़ा कर सौभाग्यवती बनूंगी। मन्त्री ने उत्तर में कहा "अगली रात को इसी समय एक लम्बा बहुत मोटा रस्सा, एक मजबूत रस्सी, एक बण्डल मोटा सूत और कुछ थोड़ा सा रेशम का सूत तथा "गोबरा" (भूंड) कीड़ा व कुछ थोड़ा सा शहद लेकर आना"। उसकी स्त्री पति की इन बातों को सुनकर बहुत विस्मित हुई। परन्तु फिर भी पति की आज्ञा के अनुसार सब चीजें संग्रह कर दूसरे दिन रात को ठीक उसी समय यथास्थान पर पहुँच कर निवेदन किया। मन्त्री ने उसको रेशम के सूत के

एक किनारे से उस "गोबरा" कीड़े को मजबूती से बांधकर उसके मुख पर एक बूंद शहद लगा कर उसका मुख ऊपर की तरफ करके खिड़की के समसूत किले की दीवार पर छोड़ देने को कहा। उस पतिव्रता ने यह सब बात यथावत् पालन की। दिवार पर उस कीड़े के छोड़ते ही उसने किले की दिवार पर ऊपर की ओर चलना आरम्भ किया। सामने से शहद की सुगन्ध पाकर वह उस शहद पाने के लोभ में धीरे २ दिवार पर ऊपर चढ़ने लगा, इस तरह क्रमशः वह उस किले के सिरे पर मन्त्री के पास पहुँच गया। मन्त्री ने उसको पकड़ लिया और उसके साथ ही रेशम के सूत को भी पकड़ लिया। फिर उसने अपनी स्त्री को रेशम के सूत के दूसरे हिस्से में जो मोटा सूत लाया हुआ था, उसका एक किनारा बांधने के लिए कहा; उसके बांधे जाने पर रेशम के सूत के सहारे वह खींचा जाने पर वह सूत भी मन्त्री के हाथ में पहुँच गया। इसी तरह, उस सूत के दूसरे किनारे पर मोटी रस्सी बांध और बाद को सबसे लम्बा मोटा रस्सा उसके पास पहुँच गया। तब उसको वहां से भाग निकलना कुछ कठिन न रहा। वह मन्त्री उस रस्सी के सहारे किले से नीचे उतर कर भाग निकला।

इसी तरह, हमारे शरीर में भी श्वास-प्रश्वास यन्त्र उस रेशमके सूत के समान है। इसको धारण या संयम अथवा अपने आधीन कर सकने पर ही चैतन्य स्नायुओं का शक्ति-प्रवाह रूप

(Nerveins currents) मोटे सूत का बण्डल, उसके बाद मनोवृत्ति रूप रस्सी और अन्त में प्राण रूप मोटे रस्से को हम अपने आधीन कर सकते हैं। बस इससे यह बात स्पष्ट है, प्राणों पर अधिकार प्राप्त कर लेने पर ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

हम अपने २ शरीर के विषय में बिल्कुल ही अज्ञ (अनजान) रहते हैं। कुछ जान सकना भी सम्भव नहीं मालूम होता। हमारा साध्य (वश) तो केवल यहीं तक है, कि हम मृतक के शरीर का व्यवच्छेद (काट) कर उसके भीतर क्या है, और क्या नहीं है, देख सकें। इसके अतिरिक्त कोई २ जीवित देह का व्यवच्छेद करके उसके भीतर क्या कुछ है और क्या नहीं देख सकते हैं। परन्तु उसके साथ हमारे अपने शरीर का कोई सम्बन्ध नहीं है। हम अपने शरीर के विषय में ही कम जानते हैं; इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है, कि हम मन को इतना अधिक एकाग्र नहीं कर सकते; कि जिससे हम अपने शरीर के भीतर की सूक्ष्म गतियों को जान सकें। जब मन बाहरी बातों का विचार छोड़कर शरीर के भीतर के भाग में प्रवेश करता है, और अधिक सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तब ही हम इन सूक्ष्म गतियों का अनुभव प्राप्त कर सकने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार की सूक्ष्मानुभूति (गहरा ज्ञान) उत्पन्न होने के लिए, पहिले स्थूल वस्तु से साधना आरम्भ करना होता है। विचार करना होता है, कि इस सारे शरीर-

यन्त्र को कौन चला रहा है ? वह प्राण शक्ति है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं । श्वास-प्रश्वास ही इस प्राण शक्ति का प्रत्यक्ष परिदृश्यमान (सामने दिखाई देने वाला) रूप है । अब साधक को इस श्वास—प्रश्वास क्रिया के साथ धीरे २ शरीर के भीतर प्रवेश करना होता है। बस इस तरह से स्थाईरूप से शरीर के भीतर पहुंच जाने पर ही साधक शरीर के भीतर होने वाली सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रियाओं को देख सकते हैं। जान पायेंगे, कि चैतन्य स्नायुओं का शक्ति प्रवाह किस प्रकार सारे शरीर में घूम रहा है। और हम जब उनको इस विचार के द्वारा मन में अनुभव कर पायेंगे, तब वे स्नायु—शक्तियां, व उनके साथ २ शरीर भी हमारे आधीन हो जायगा। मन भी इस स्नायवीय शक्तिप्रवाह के द्वारा सञ्चालित होता है; इसलिए उन पर विजय प्राप्त कर लेने पर ही मन और शरीर भी "साधक,, के आधीन हो जाता है। ये सेवक के समान आज्ञाकारी हो जाते हैं। ज्ञान ही वह शक्ति है। हमारा उद्देश्य इस ज्ञान शक्ती को प्राप्त करना ही है। इस लिए शरीर व उसके भीतर वर्त्तमान स्नायु मण्डलि के भीतर से जो शक्ति—प्रवाह (जीवन स्त्रोत) निरन्तर प्रवाहित होता रहता है; उसके विषयमें ज्ञान प्राप्त करना बहुत अधिक आवश्यकीय होता है। इसलिए हमें सबसे पहिले "प्राणायाम,, से आरम्भ करना चाहिए। इस प्राणायाम-तत्व की विस्तृत अलोचना बहुत अधिक समय में हो सकती है; इसको ठीक २ समझने के लिए बहुत दिन तक अलोचना करने की आवश्यकता होती है।

इस लिए हम यहां पर आगे उसके एक २ भाग की क्रमशः आलोचना करेंगे।

हम क्रमशः मालूम कर सकेंगे, कि प्राणायाम साधन करने में जो २ क्रियायें की जाती हैं उनके करने का कारण क्या है, और उन प्रत्येक क्रिया से शरीर के भीतर किस प्रकार की शक्ति का प्रवाह होता है। क्रमशः यह सब साधन द्वारा मालूम किया जा सकेगा। परन्तु इसके लिए निरन्तर एकाग्रता से साधना करने की आवश्यकता होती है। साधना करनेपर ही साधक को हमारी इस बात की सचाई मालूम होगी। हम इस विषय की कितनी ही युक्तियां क्यों न दें; पर वह कुछ भी तुम्हें उपयुक्त प्रतीत न होंगी, जबतक, कि स्वयं प्रत्यक्ष न कर लोगे। जब शरीर के भीतर होने वाली इस जीवन स्रोत की गति (फड़कन) को स्पष्ट कर लोगे; उसी समय ही साधना के विषय में होने वाला सब सन्देह चला जायेगा; और परम आनन्द और उत्साह अनुभव कर सकोगे। परन्तु इस अनुभव को प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन कठिन अभ्यास करने की आवश्यकता होती है। कम से कम हर रोज दो बार साधक को अभ्यास करना चाहिए; और इस अभ्यास को करने के लिए सवेरे और सायंकाल का समय सबसे अच्छा होता है। जब रात्रि का अंधेरा हट कर दिन का प्रकाश हो रहा हो, और जब सायंकाल को सूर्य छिप जाने पर रात्रि का अन्धेरा उपस्थित हो (गोधुलि के समय) इन दोनों समय में प्रकृति और समय की अपेक्षा शान्ति के रूप में

विराजमान रहती है । मन को स्थिर करने के लिए ये दोनों समय ही विशेष उपयुक्त होते हैं । क्योंकि इन दोनों समयों में शरीर भी अपेक्षा से शान्त रहता है । इन दोनों समय में साधना करने से प्रकृति की हमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है; इसलिए इन दोनों समय में साधना करना ही शास्त्र कारों ने आवश्यकीय बताया है । साधना समाप्त न होने तक, भोजन न किया जाय, ऐसा नियम रखना चाहिए । इस प्रकार के नियम में बंध—जाने से क्षुधा का प्रबल वेग ही बहुत कुछ तुम्हारे आलस्य का नाश कर देगा । स्नान-पूजा व साधन समाप्त न होने तक भोजन करना ठीक नहीं । भारतवर्ष में निष्ठावान् गृहस्थ के बालकों को बचपन से ही यह शिक्षा मिलती है, कालान्तर में यह उनके लिए एक स्वाभाविक बात हो जाती है । इसीसे जबतक वे स्नान-पूजा व साधना नहीं कर लेते, तब तक उन्हें भूख ही नहीं लगती।

आप में से जो समर्थवान् हों; वे साधना के लिए एक स्वतन्त्र (जुदा) कमरा रखें, तो अच्छा है । इस कमरे में सोना न चाहिए, और इसको सब तरह से पवित्र रखना चाहिए । स्नान न करे, तथा शरीर व मन को पवित्र किये बिना, इसकमरे में न जाना चाहिये । इस कमरे को हमेशा मौसमि सुगन्धित ताजे फूल और सुन्दर मनोहारि उच्च आदर्श—पुरुषों के चित्र सजाकर रखने चाहियें । साधक को इनके पास रहना बहुत उत्तम होता है । प्रातः काल व सायंकाल को वहां पर धूप, अगर बत्ति या हवन द्रव्य जलाना चाहिए । इस कमरे में किसी प्रकार का झगड़ा,

फसाद, क्रोध व अपवित्र चिन्ता (बुरे विचार) न होने पावे। साधक के साथ जिनके विचार और प्रकृति मिल सकती हों, केवल उनको ही आवश्यक होने पर इस कमरे में आने देना चाहिए। इस प्रकार करने से शीघ्र ही वह कमरा सत्व गुण (शान्तभाव से पूर्ण हो जायेगा; यहां तक, कि जब किसी प्रकार का दुःख या आशंका के आने से मन चञ्चल हो जाय, उस समय इस कमेरे में प्रवेश करते ही साधक के मन से यह दुःख आशंका मिटकर उसका मन शान्ति के समुन्द्र मे लह लहाने लगेगा। उपासना के लिए मन्दिर, मसजिद और गिर्जा बनाने का केवल यही एक मात्र उद्देश्य था। अब भी बहुत से मन्दिर व गिर्जाओं में यही बात देखने में आती है। परन्तु अधिकांश लोग इसका यह उद्देश्य तक बिल्कुल भूल गये हैं। अपने चारों ओर पवित्र कम्पन (पवित्रता की लहर (Vibration) बनाये रखने से वह स्थान पवित्रता की ज्योति से परिपूर्ण होता है।

जो इस प्रकार स्वतन्त्र कमरे की व्यवस्था न कर सकें, वे सुभीते के अनुसार यथास्थान में बैठ कर ही साधन कर सकते हैं। शरीर को सीधा (एक सीध में) रख कर आसन जमाके बैठो और अपने पवित्र विचारों के द्वारा संसार में पवित्र विचारों की लहर बहादो। अपने मन ही मन स्मरण करो, कि संसार के सब जीव सुखी होवें सबके सब शान्ति को प्राप्त करें, सब ही आनन्द प्राप्त करें कोई भी दुःखी न हों:—

"ॐ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

इस प्रकार के पवित्र विचारों का स्रोत अपने चारों तरफ पूरब, दक्षिण, उत्तर व पश्चिम दिशाओं की ओर बहाकर इन पवित्र विचारों से सब स्थान पूर्ण करदो। इस प्रकार के विचारों की ओर मन की शक्ति को जितना ही एकाग्र करोगे, उतनाही अधिक शान्ति का अनुभव करोगे। अन्तमें देख पाओगे, कि "और सब स्वस्थ हों,, यह भावना ही साधक को स्वयं स्वास्थ्य सम्पन्न होने के लिए सबसे सहज उपाय है "और सब सुखी हों;, यह भावना ही स्वयं सुखी होने का सरल उपाय है।

इसके अनन्तर जो ईश्वर पर विश्वास रखते हैं, वे ईश्वर से प्रार्थना करें यह प्रार्थना धन, या स्वर्ग सुख प्राप्ति के लिए न होनी चाहिए, बल्कि हृदय में सत्य—तत्व– का आलोक प्राप्ति के लिए ही यह प्रार्थना होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त और सब तरह की प्रार्थनाओं में ही कुछ न कुछ स्वार्थ हुआ करता है।

इसके अनन्तर यह विचार करना चाहिए, कि हमारा शरीर वज्र के समान दृढ, सबल और स्वस्थ है। यह शरीर ही हमारी मुक्ति का एकमात्र सहायक है। इस लिए इसको विचार द्वारा वज्र के समान दृढ बना लेना चाहिए। मन ही मन विचारों को

परिपक्व करलो, कि इस शरीर के द्वारा ही मैं इस जीवन समुद्र से पार होऊँगा। जो दुर्बल होता है, वह कभी भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। इस—लिए सब प्रकार के शारीरिक व मानसिक दुर्बलता को छोड़ देना चाहिए। शरीर को कहो और समझाओ तुम बहुत बलवान् हो, मनको कहो, कि तुम भी अनन्त शक्ति सम्पन्न हो, और अपने ऊपर खूब अधिक विश्वास व भरोसा रखो। साधना में उत्तरोत्तर निश्चय ही सिद्धि होगी।

तीसरा-अध्याय।
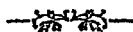
प्राण (जीवनी शक्ति)

अधिकांश मनुष्य यह विचार करते हैं, कि प्राणायाम श्वास-प्रश्वास लेने की कोई एक विशेष क्रिया मात्र है; परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। असल में प्राणायाम का श्वास-प्रश्वास की क्रिया बहुत ही कम सम्बन्ध है। ठीक तरह से प्राणायाम साधन का अधिकारी होने के लिये, उसके बहुत से जुदे २ उपाय हैं। श्वास-प्रश्वास की क्रिया उनमें से एक उपाय है। प्राणायाम का अर्थ है प्राण (जीवनी शक्ति) का संयम करना भारतीय दार्शनिकों के मत में यह सारी सृष्टी दो तरह के पदार्थों से बनी हुई है। उनमें से एक का नाम आकाश है। यह आकाश एक सर्वव्यापि (सर्वत्र व्याप्त) और सर्वानुस्यूत (सब में समायी हुई) सत्ता है। जिस किसी वस्तु का आकार है, जो कोई वस्तु दो वा ततोधिक वस्तुओं के संयोग से बनी हुई है, वे सब इस आकाश तत्व से उत्पन्न हुई है। यह आकाश ही विकारी होने पर वायू के रूप में परिणत होता है, यह ही तरल पदार्थ के रूप में परिणत होता है; + और यह ही कठिन पदार्थ के रूप में परिणत होजाता है; यहां तक कि यह आकाश ही

सूर्य, पृथिवी, तारा, धूम केतु आदि के रूप में परिणत होता है; सब प्राणियों का शरीर-पशुओं का शरीर और उद्भिद (वनस्पति) आदि जो सब आकारवान् हम देखते हैं और जिन सब वस्तुओं को हम इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं, यहां तक कि संसार में जितने और जो कुछ भी पदार्थ देखने में आते हैं, वह सबके सब ही आकाश से उत्पन्न हुए हैं। इस आकाश तत्व को इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। यह इतना सूक्ष्म है, कि यह साधारण अनुभूति (विचार) के भी अतीत (अगोचर) है। जब यह स्थूल रूप में परिणत होकर किसी आकार को धारण करता है; हम तब ही इसको अनुभव कर सकते हैं। सृष्टि के आदि में पहिले एक मात्र आकाश तत्व ही वर्तमान रहता है। इसी तरह कल्प के अन्त (प्रलय काल) में और सब के सब कठिन, तरल व वाष्पीय (भाफ जैसे) पदार्थ-ये सब के सब आकाश में लीन हो जाते हैं। फिर उसके बाद सृष्टि इसी आकाश से उत्पन्न होती है।

यहां पर प्रश्न हो सकता है, कि किस शक्ति के प्रभाव से आकाश इस तरह पर सृष्टि रूप में परिणत होता है? इसका उत्तर यह है, कि ऊपर बताये हुये इस प्राण (चैतन्य) की शक्ति से ही यह आकाश तत्व सृष्टि का उत्पादक कारण बनता है। क्योंकि जैसे आकाश इस सब सृष्टि का कारण अनन्त सर्वव्यापी मूल पदार्थ है, इसी तरह प्राण भी जगत की उत्पत्ति का कारण-भूत अनन्त सर्वव्यापिनि विकाशिनी शक्ति है। कल्प के आदि

में और अन्त में सब पदार्थ ही आकाश के रूप में परिणत हुए रहते हैं; दूसरे कल्प के आरम्भ में फिर इसी प्राण से ही सारी शक्ति का विकाश (विस्तार) होता है। यह प्राण ही गति (संचालिनि शक्ति) के रूप में प्रकट होता है, यह प्राण ही माध्याकर्षण (चौम्बुका कर्षण) शक्ति के रूप में उपस्थित होता है। यह प्राण ही स्नायवीय शक्ति प्रवाह (Nerve-Current) अथवा विचार शक्ति (ज्ञान शक्ति) के रूप को धारण कर शारीरिक समस्त क्रियाओं के रूप में प्रकाशित हुए हैं। विचार-शक्ति से लेकर बहुत साधारण दैहिक शक्ति तक यह सबका सब ही एक मात्र प्राण (जीवनी-शक्ति) का विकाश है। बाह्य व अन्तर्जगत की सब शक्तियां जब अपनी मूल सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं, तब उसको ही प्राण कहते हैं।

अब यह प्रश्न उठता है, कि जब अस्ति (अपरोक्ष) व नास्ति (परोक्ष) कुछ भी नहीं था, जब तमोद्वारा तमः आवृत था, उस समय क्या था ?* इसका उत्तर यह है, कि यहआकाश ही गतिशून्य होकर उस समय वर्तमान था। उस समय यद्यपि प्राण का कुछ भी प्रकाश अनुभूत न होता था, फिर भी उस समय भी प्राण-शक्ति का अस्तित्व किसी दूसरे रूप में था।

*नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्—इत्यादि;
तम आसीत् तमसागूढ़-मग्रे मप्रकेतत्—इत्यादि।
ऋग्वेद १० म, मण्डल

हम आज कल के विज्ञान (साइन्स) के द्वारा जान सकते हैं, कि संसार में जितनी भी कुछ शक्ति का विकाश हुआ है, उनकी समष्टि चिरकाल तक समान (एकरस) रहती है। सिर्फ कल्प के अन्त में वे शान्त भाव को धारण करते हैं (अव्यक्त अवस्था में परिवर्तित हो जाते हैं,) फिर दूसरे कल्प के आदि में वे ही व्यक्त होकर आकाश-तत्त्व के ऊपर कार्य करते हैं। इस आकाश से परिदृश्य-माण (दिखाई देने वाली) सब वस्तुयें उत्पन्न होती हैं, और आकाश के परिणाम प्राप्त (विकारी) होने पर यह प्राण भी विविध प्रकार की शक्तियों के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्राण का यथार्थ तत्व जानना (ठीक २ ज्ञान प्राप्त करना) और उसको संयम करने की चेष्टा ही प्राणायाम का मुख्य उद्देश्य है।

इस प्राणायाम को सिद्ध कर (साध) लेने पर, साधक के अन्तर्हृदय में अनन्त-शक्तियों का दर्वाजा खुल जाता है। उदाहरण की तौर पर मान लो, कि किसी साधक ने इस प्राण का विषय सब का सब ठीक २ जान लिया और उसको जय (अपने आधीन) करने में भी सफल होगया, तब बताओ संसार में अब कौनसी ऐसी शक्ति बाकी रह गई, जो उसके आधीन न हो कर काम न करे? बल्कि सच मुच ही उसकी आज्ञा से चन्द्रमा और सूर्य अपने स्थान को छोड़ देते हैं छोटे परमाणु से लेकर बृहत्तम सूर्य तक उसके आधीन हो जाते हैं; क्योंकि उसने इनकी

मूल संचालिनी शक्ति प्राण को जीत लिया है। प्रकृति को वशीभूत करने की शक्ति प्राप्त करना ही प्राणायाम साधन का एक मात्र लक्ष्य है। इसी लिये जब योगी (साधक) इस साधना में सिद्धि प्राप्त कर लेता है, उस समय प्रकृति के साम्राज्य में ऐसी कोई वस्तु नहीं होती, जो उसकी आज्ञा के आधीन होकर काम न करे। यदि उस समय वह देवताओं को अपने पास आने की आज्ञा करे, तो वे उसी समय उसकी आज्ञा होते ही आजाते हैं। मृत-परलोकगत आत्माओं को आने की आज्ञा करने पर वे उसी समय आकर उपस्थित हो जाते हैं। यहां तक कि प्रकृति की समस्त शक्तियां ही उसकी आज्ञा होते ही सेवक के समान उसकी आज्ञा का पालन करती हैं। अज्ञानी लोग साधक के इन सब कामों को लोकोत्तर (अद्भुत, कौतुक) जैसा समझते हैं।

हिन्दुओं की विचार धारा में एक विशेषता यह भी है, कि वे चाहे किसी भी तत्व की आलोचना करेंगे, सब से पहिले उसके बीच में से जहां तक सम्भव हो सकता है,—एक साधारण भाव को अनुसन्धान करते हैं; फिर उसमें जो कुछ विशेषता हो, उसको पीछे विचार के लिये रख देते हैं। वेद में यह प्रश्न बार २ पूछा गया है:—

"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति"।

अर्थात्—ऐसी कौन एक वस्तु है, जिसके जान लेने

से यह सब कुछ जाना जा सके । इसी तरह से हमारे जितने शास्त्र हैं, दर्शन हैं, वे सबके सब, केवल "जिस एक वस्तु के जानने से सब कुछ जाना जा सके," इस एक वस्तु को ही खोजने में व्यस्त हुए हैं।

यदि कोई मनुष्य थोड़ा २ करके संसार के एक २ तत्व को जानना चाहे' तो इसके लिए उसका अनन्तसमय लगेगा क्योंकि इसको, तो एक २ बालू (रेत) की कणों तक का ज्ञान प्राप्त करना होगा। इससे यह सिद्ध हो जाता है, कि इस प्रकार से प्रकृति के इस अनन्त वस्तु भण्डार से एक २ का विश्लेषण करके ज्ञान प्राप्त कर उनसे उच्च तथ्य तक पहुँचना एक तरह से बिल्कुल असम्भव है। तब इस प्रकार से ज्ञान प्राप्ति की सम्भावना कैसे हो सकती है? एक २ बात को पृथक् २ जानने का का दुराग्रह रखने से ज्ञान लाभ की सम्भावना कैसे की जा सकती है? इसी लिए प्रत्यक्ष दर्शी योगियों का कहना है, कि इन सब विशेष अभिव्यक्तियों (व्यक्त पदार्थों) के भीतर एक साधारण—(सर्व व्याप्त) सत्ता विराजमान है। उसको जान लेने से ही इन सब का ज्ञान प्राप्त हो जाता है इस प्रकार से ही वेद में इस परिलक्ष्यमाण सब सत्ता को ही एक सामान्य सत्ता में अन्तर्भाव किया गया है। जिसने इस "अस्ति" (सत्) स्वरूप को धारण कर लिया है। उसने समस्त संसार को जान लिया है। इस लिए जिसने इस प्राणशक्ति को सिद्ध करलिया है, उसने संसार में जितनी कुछ भौतिक व आध्यात्मिक शक्ति वर्तमान

हैं, वे सब प्राप्त करली है। जिस साधक ने प्राणों पर जय प्राप्त करलिया है उसने केवल अपना मन ही नहीं, और सबके मन को भी जय कर लिया है। उसने अपना शरीर व और जितने शरीर हैं, सब को अपने आधीन करलिया है। क्योंकि प्राण ही सब शक्तियों के विकाश स्थान है।

किस युक्ति से इस प्राण शक्ति पर विजय प्राप्त किया जाय, यह ही प्राणयाम का मुख्य उद्देश्य है। इस प्राणायाम की जितनी भी साधन विधि व उपदेश हैं, उन सब का यही एक मात्र उद्देश्य है। प्रत्येक साधनार्थी व्यक्ति को ही जो कुछ अपने सबसे अधिक समीप हो उससे ही साधन आरम्भ करना उचित है—उसके निकट जो कुछ हो, सब को ही जीतने की चेष्टा करना चाहिए। संसार की समस्त वस्तुओं से हमारा शरीर ही हमारे सबसे अधिक निकट वर्ति है, और मन उससे भी अधिक समीपवर्ति है। जो प्राण संसार में सर्वत्र क्रीड़ा कर रहा है, उस का जो अंश हमारे इस शरीर व मनको चैतन्य शक्ति प्रदान कर रहा है यह प्राण ही हमारे सर्व के अपेक्षा अधिक निकटवर्ती है। यह जो एक क्षुद्र (छोटी) प्राण तरङ्ग (लहर)—जो हमारे शारीरिक व मानसिक शक्ति के रूप में परिचित है, वह हमारे लिए अनन्तप्राण समुद्र से सब की अपेक्षा निकटवर्ती तरङ्ग है। यदि हम इस क्षुद्र तरङ्ग को जय कर सकते, तो हम समस्त प्राण समुद्र को जय करने की आशा कर सकते हैं। जो योगी इसमें कृतकार्य (सफल) हो जाता है, वह

सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तब और कोई शक्ति भी उसके ऊपर प्रभुत्व नहीं कर सकती। वह एक तरह से स्वयं सर्व शक्तिमान व सर्वज्ञ हो जाता है।

हमें सब देशों में ही देखने में आता है, कि इन देशों में ऐसे २ सम्प्रदाय वर्त्तमान हैं, जो किसी न किसी उपाय से इस प्राणशक्ति का संयम करने कीचेष्टा करते हैं। इसदेश (अमेरिका) में ही हम मनः शक्ति द्वारा आरोग्य कारी (Mind Healer), विश्वास से अरोग्य करने वाले Faith—Healer), प्रेत—तत्व वित् Spiritualists), खृष्टि—विज्ञान वित् (Christian Scintists) वशीकरण विद्या वित् (Hypnatists) आदि सम्प्रदाय देख पाते हैं। यदि हम इन मतों को विशेष विधि से विश्लेषण करके देखें, तो समझ सकेंगे, कि इन सब मतों के ही मूल देश में (वे जानते हों चाहे न जानते हों) प्राणायाम की क्रिया वर्त्तमान है। ये सब इस एक शक्ति के सहारे ही उधेड़बुन कर रहे हैं। परन्तु जिस शक्ति के सहारे यह सब कुछ कर रहे हैं, उसकी बात ये कुछ भी नहीं जानते। इन्होंने अनुकूल भाग्यवश जैसे एक शक्ति का आविष्कार कर लिया है, परन्तु उस शक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में वे बिल्कुल ही अनभिज्ञ हैं। अनभिज्ञ होने पर भी योगी जिसशक्ति पर प्रभुत्व करते हैं। यह सब प्राण की ही शक्ति है।

यह प्राण ही समस्त प्राणियों में जीवनी शक्ति के रूप में प्रगट होता है। मनोवृत्ति इसकी सूक्ष्म व उच्चतम अभिव्यक्त

(स्फुरण) है। साधारणतः हम जिसको मनोवृत्ति नाम देते हैं, मनोवृत्ति कहने से केवल उसी का बोध नहीं होता। मनोवृत्ति के बहुत से भेद हैं। जिसको हम सहजात-स्वाभाविक-ज्ञान (Instinct) या ज्ञान-विरहित चित्तवृत्ति कहते हैं; वह हमारा सबसे निम्नतम कार्यक्षेत्र है जैसे हमें एक मच्छर ने काटा, हमारा हाथ अपने आप चलकर उसको मारने को चला उसको मारने के लिए हाथ उठाने और झुकाने में हमें कुछ विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। यह भी एक प्रकार की मनोवृत्ति ही है। शरीर की समस्त ज्ञान-साहाय्य-विरहित प्रतिक्रियायें ही (Reflex actions*) इसी श्रेणी के अन्तर्गत है। इससे ऊँची और एक श्रेणी की मनोवृत्ति है; उसको ज्ञान पूर्वक मनोवृत्ति (Conscious) कहते हैं। हम विचारकर रहे हों, फिकर कर रहे हों, सब बातों को दोनों ओर (पहलू) विचार करके देखते हों; परन्तु इतने पर भी समग्र मनोवृत्ति उपयोग में नहीं आई।

हम जानते हैं, युक्ति व तर्क (बहस) बहुत छोटी सीमा तक चल सकती है। वह हमें कुछ दूर ले जा सकती है; इससे

*बाहर की किसी प्रकार की उत्तेजना से शरीर का कोई २ यन्त्र, समय २ पर ज्ञान की कोई सहायता न लेकर स्वयं अपने आप काम करने लगता है, उस काम को (Reflex Auctions) कहते हैं।

आगे फिर उसका कुछ अधिकार नहीं रहता। जिस सीमा के भीतर ये काम कर सकते हैं; वह बहुत ही थोड़ा है—या बहुत ही संकीर्ण है। परन्तु यह भी देखते हैं, कि विविध प्रकार के विषय, जो युक्ति की सीमा के बाहर होते हैं; कभी कभी वे भी इसके भीतर आ पड़ते हैं। जैसे धूम-केतु-सौर जगत् की सीमा के भीतर न होने पर भी ये कभी २ सौर जगत की सीमा में आ पड़ते हैं; और हमें दिखाई देते हैं। इसी तरह बहुत से तत्व जो हमारी युक्ति की सीमा के बाहर होते हैं; वे भी इसकी सीमा के भीतर आजाते हैं। यह बात निश्चित है, कि वे इस सीमा के बाहर से आते हैं; परन्तु विचार शक्ति अपनी इस सीमा को छोड़कर उससे (बहुतअधिक दूर) बाहर नहीं जासकती।

हम यहां पर जिस तत्व (प्राण आदि) के विषय में विचार कर रहे हैं, इसका यथार्थ सिद्धान्त अवश्य ही युक्ति की सीमा के बाहर के भाग में जाकर अनुसन्धान करना होगा। हमारा विचार व युक्ति वहां तक पहुँच ही नहीं सकती। परन्तु योगियों का कहना है, कि हमारे ज्ञान की यह ही चरम (अन्तिम) सीमा नहीं है। मन ऊपर बताई हुई दो भूमियों से भी ऊंची भूमि में गमन कर सकता है। उस भूमि को हम ज्ञानातीत (पूर्ण चैतन्य) भूमि कह सकते हैं। जब मन "समाधि" नामक पूर्ण एकाग्र व ज्ञानातीत अवस्था में आरुढ हो जाता है, तब वह युक्ति राज्य के बाहर चला जाता है; और सहजात ज्ञान व युक्ति के अतीत

विषयों को प्रत्यक्ष करता है। शरीर की समस्त सूक्ष्म से सूक्ष्म शक्तियां, जो प्राण की ही अवस्था भेद मात्र होती हैं; वे यदि ठीक अपने निश्चित मार्ग पर गमन करें, तो वे मन के ऊपर विशेष प्रकार से कार्य करती हैं। मन भी तब पहिले की अपेक्षा उच्चतर अवस्था अर्थात् ज्ञानातीत या पूर्ण चैतन्य भूमि में चला जाता है, और वहां से कार्य करता है।

चाहे बहिर्जगत् हो या अन्तर्जगत्, जिस ओर भी देखाजाय, उसी ओर ही एक अखण्ड पदार्थसमूह दिखाई देता है। भौतिक जगत् की ओर दृष्टि डालने से. देखने में आता है, कि जैसे एक अखण्ड वस्तु ही विविध प्रकार के आकारों में विराजमान हो रही है। जैसे यथार्थ में आपके शरीर के साथ सूर्य का कुछ भी विभेद नहीं है। इसका प्रमाण वैज्ञानिकों के पास जाओ, वह तुम्हें समझा देंगे, कि एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु का नाममात्र के लिये ही भेद है। इस मेज (भूमि)और हमारे में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। अनन्त जड़ (वस्तु) राशि में यह टेबुल एक बूंद के समान है; और हम उसके एक २ बूंद हैं। प्रत्येक साकार वस्तु ही बस इस अनन्त जड़ समुद्र की आवर्त (भँवर) स्वरूप है।

यह भँवर हर समय एकसा नहीं रहते। मानलो, किसी नदी में लाखों आवर्त्त उपस्थित हों प्रति भँवर में, प्रति क्षण ही नया जल आता है, वह कुछ देर तक घूमता है, और फिर

इसके बाद दूसरी तरफ चला जाता है, तथा नूतन जल कणों का समूह उसका स्थान अधिकार कर लेते हैं। यह संसार भी इसी तरह नियमित परिवर्त्तन स्वरूप जड़ राशि मात्र है हम इसके बीच में छोटे २ आवर्त्त के समान है। जैसे मानलो कुछ भूत समष्टि ने इस संसार रूपी महान आवर्त्त में प्रवेश किया; कुछ दिन तक इस आवर्त्त में घूम फिर कर सम्भवतः मनुष्य शरीर में प्रवेश किया, फिर बाद में उसने किसी अन्य प्राणी का रूप धारण किया; फिर इसके बाद कुछ वर्ष के अनन्तर जड़ (खनिज) नामक और एक प्रकार के आवर्त्त का आकार धारण करे; तो इससे क्या सिद्ध हुआ, कि यह नित्यप्रति प्रत्यक्ष होने वाली घटना क्रमागत परिवर्त्तनशील नहीं है? अर्थात् सब की सब वस्तु मात्र ही परिवर्त्तन शील हैं; कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। हमारा शरीर, आपका शरीर नाम से वास्तव में कोई भी वस्तु नहीं है। इस तरह कहना केवल बात ही बात है। यह सब केवल एक अखण्ड जड़ राशि मात्र विराजमान हो रही है। उसके किसी एक बिन्दु का नाम चन्द्रमा, किसी एक का नाम सूर्य, कोई बिन्दु मनुष्य, कोई बिन्दु पृथिवी और कोई बिन्दु उद्भिद (वनस्पति) तथा दूसरा कोई बिन्दु खनिज पदार्थ का आकार धारण किये हुए है। इनमें से कोई एक भी हममेंसे एक समान स्थिर नहीं रहता, सब वस्तु ही निरन्तर परिणाम (परिवर्त्तन) को प्राप्त होती रहती हैं। सबके सब भूत (मूल तत्व पृथ्वी, जल आदि) कभी स्थूल

आकार में और कभी सूक्ष्म अवस्था में प्राप्त होते रहते हैं। अन्तर्जगत् के विषय में भी इसी तरह परिवर्त्तन होता रहता है।

सृष्टि के समस्त पदार्थ ही ईथर (स्फुरण शक्ति) से उत्पन्न हुए हैं। इस लिए इसको ही समस्त जड़ वस्तुओं का प्रतिनिधि स्वरूप स्वीकार किया जा सकता है। प्राण के सूक्ष्म स्पन्दनशील अवस्था में यह ईथर ही मन का स्वरूप धारण किये हुए होता है। इस लिये समस्त मनो जगत् भी एक अखण्ड स्वरूप है। जो अपने मन में इस अति सूक्ष्म कम्पन को उत्पन्न कर सकें, वे देख पायेंगे, कि यह समस्त जगत् इस सूक्ष्मानु सूक्ष्म कम्पन की समष्टि-मात्र है। कोई २ औषधियां अपनी शक्ति से हमें इन्द्रियों के अतीत राज्य में ले जाती हैं। इस प्रकार की अवस्था में हम इस सूक्ष्म कम्पन (Subtle vibration) को स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं। आप में से बहुतों ने सर हम्फि डेवि (Sir Humphrey Davy) की प्रसिद्ध इस प्रकार की परिक्षा की बात सुनी या पढ़ी होगी। उनके आविष्कृत हास्य जनक वाष्प (Laughing Gas) से उनके अभिभूत होने पर, वह स्तब्ध और निस्पन्द (अचैतन्य) हो पड़े। कुछ क्षण के बाद चैतन्य (होश) में आने पर, एकाएक कह उठे, यह सम्पूर्ण जगत केवल एक भाव राशि की समष्टि मात्र है। कुछ क्षण के लिये सम्पूर्ण स्थूल कम्पनो (Gross Vibration) के चले जाने पर सूक्ष्म २ कम्पन—जो उनके मत में मन था

वह उस समय अपने चारों ओर केवल एक अनन्त भाव राशि को देखते थे, वह उस समय सूक्ष्म कम्पन को देख पाते थे। इस लिये उस समय सारा संसार उनके सामने एक महान् भाव समुद्र में परिणत हो गया था। उस महा समुद्र में वे स्वयं तथा इस समस्त जगत के प्रत्येक पदार्थ ही एक २ क्षुद्र भावावर्त के समान थे।

इस तरह से अब हमने अन्तर्जगत् में भी एक अखण्ड भाव का अनुसन्धान कर लिया। अब हम जब इन सब बाह्य व अन्तर जगत को पीछे छोड़ कर उस आत्मा के पास तक पहुँच जाते हैं, तब वहां पर एक अखण्ड (चैतन्य) व्यतीत और कुछ भी नहीं है। सब प्रकार की गतियों के भीतर वही एक अखण्ड (चैतन्य) सत्ता अपनी महिमा से आप ही विराजमान हो रही है। यहां तक, कि इन परिदृश्यमान गति-समूहों (शक्ति के विकाश समूह) में भी वही एक अखण्ड भाव विद्यमान है। इन सबको अस्वीकार करने का और कोई उपाय नहीं है; क्योंकि आधुनिक विज्ञान शास्त्र ने भी इस सत्य को स्वीकार कर लिया है। आज कल के पदार्थ विज्ञान ने भी सिद्ध कर दिया है, कि यह शक्ति समूह सर्वत्र ही एक समान भाव से विराजमान है। इसके अतिरिक्त इन के मत में यह शक्ति पुंज (समष्टि) दो आकारों में रहती है। कभी स्तिमित या अव्यक्त अवस्था में, और कभी व्यक्त अवस्था में आजाती है। व्यक्त अवस्था में वह इन सब वि-

विविधप्रकार की शक्तियों का आकार धारण करता है । इस प्रकार यह अनन्त समय तक कभी व्यक्त और कभी अव्यक्त आकार धारण करता रहता है । इस शक्ती—रूपी प्राण के संयम का नाम ही "प्राणायाम,, है ।

हम पहिले ही बता आये हैं, कि इस प्राणायाम के साथ श्वास—प्रश्वास की क्रिया का बहुत थोड़ा सम्बन्ध है । यथार्थ में प्राणायाम साधन का अधिकारी होने के लिए, यह श्वास प्रश्वास की क्रिया एक साधारण उपाय मात्र है । हम फुस्फुस (फेफड़ों) की गति में ही प्राण का प्रकाश स्पष्ट रूपसे देख पाते हैं । उसमें प्राण की क्रिया सहज में ही उपलब्ध होती है । फुस्फुस की गति रुक जाने पर शरीर की समस्त क्रियायें एक दम बिल्कुल रुक जाती है यहां तक कि शरीर में और २ जो शक्तियां क्रीड़ा कर रही थीं, वे भी स्तिमित (निश्चल) भाव धारण कर लेती हैं । इसके विपरीत ऐसे भी बहुत से मानव पुंगव है, जो श्वास—प्रश्वास न लेकर कुछ महीने तक मिट्टि के भीतर गड़े रह सकते हैं, और इतने पर भी उनका शरीर नष्ट नहीं होता । परन्तु साधारण देह धारी के लिए, शरीर में जितनी कुछ गतियां हैं उनमें से यहही (फुस्फुस) प्रधान शारीरिक गति है । सूक्ष्म से सूक्ष्म तर शक्ति के पास तक पहुँचने के लिए स्थूल तर शक्ति की सहायता लेनी होती है । इस प्रकार क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्म तर शक्ति तक पहुँचते २ अन्त में हम अन्तिम

हृदय तक पहुँच सकते हैं। हम पहिले ही बता चुके हैं, कि शरीर में जितने प्रकार की क्रियायें हैं, उनमें से फुस्फुस की क्रिया ही बहुत आसानी से प्रत्यक्ष की जा सकती है। यह एक तरह से किसी (घड़ी आदि) यन्त्र में के गति नियामक चक्र के स्वरूप में दूसरी शक्तियों को चलाता है। प्राणायाम का यथार्थ उद्देश्य फुस्फुस की इस गति को अपने आधीन करना है। इस गति के साथ श्वास का भी घनिष्ट सम्बन्ध है। यह बात नहीं है, बल्कि वह स्वयं श्वास प्रश्वास की गति को उत्पन्न करता है। यह वेग ही दत्तोलन यन्त्र (ढेकुली) के समान वायु को भीतर की तरफ खींचता है। प्राण इस फुस्फुस को चलाते हैं, और फिर यह फुस्फुस की गति वायु को अपने में आकर्षण करती है। इससे स्पष्ट हो जाता है, कि प्राणायाम श्वास—प्रश्वास की क्रिया नहीं है। इसलिए जो पेशिक (पेशियों की) शक्ति फुस्फुस को चलाती है—उसका संयम (अपने आधीन करना) ही प्राणायाम है। जो शक्ति स्नायुमण्डल के भीतर से होकर मांस पेशियों के पास पहुँच कर इस प्रकार फुस्फुस का संचालन करती (फड़काती) है' वह ही प्राण है। प्राणायाम साधन में हमें इस को ही वश में लाना होता है। जिस समय हम इस प्राण को संयम कर पायेंगे, उस समय हम देख पायेंगे कि शरीर के भीतर वर्त्तमान प्राण कि सब ही क्रियायें हमारे शासन के आधीन हो गई हैं। हम ने स्वयं अपनी आंखों ऐसे पुरुष साधक देखे हैं, जिन्होंने अपने शरीर की सब पेशियों को अपने आधीन कर

रखा है अर्थात् वे उनको अपनी इच्छा के अनुसार चला सकते हैं। और चला भी क्यों न सकें ? क्योंकि यदि कुछ पेशियां हमारी इच्छा के अनुसार सञ्चालित हो जांय, तब और २ पेशियां व स्नायुओं को भी हम अपनी इच्छानुसार कैसे नहीं चला सकते इसमें असम्भव बात क्या हो सकती है ? इस साधारण अवस्था में तो हमारी यह संयम की शक्ति लुप्त हो रही है जिससे वे पेशियां हमारी इच्छा धीन न रहकर स्वतन्त्र Involuntary) हो रही है। हम इच्छा के अनुसार कानों को घुमा फिरा नहीं सकते, परन्तु हम जानते हैं कि पशुओं में यह स्वभावतः वर्त्तमान है। हमारे में इस शक्ति की परिचालना नहीं है, इसी लिए यह शक्ति नहीं है। इसी को ही पुरुष नुक्रमिक (वंश परम्परागत) शक्ति ह्रास (Atavism) कहा जाता है।

और यह भी हमारे अविदित नहीं है, कि जो शक्ति इस समय अव्यक्त भाव धारण किये हुए हैं; उसको व्यक्त अवस्था में लाया जा सकता है। दृढ़ अभ्यास के द्वारा हम अपने शरीर के भीतर की बहुत सी क्रियाओं को; जो अब हमारी इच्छाधीन नहीं हैं, उनको साधन द्वारा अपने आधीन किया जा सकता है। इस प्रकार विचार करने से देखने में आता है, कि शरीर का प्रत्येक भाग हो, हम बिल्कुल अपनी इच्छा के आधीन कर सकते हैं, यह कुछ भी असम्भव बात नहीं है। परन्तु जैसा हम बता रहे हैं और ऊपर के प्रसंग से सब समझ चुके हैं, वैसा होने की ही अधिक सम्भावना है। योगी प्राणायाम

के द्वारा इनको कर सकने में समर्थ होते हैं। सम्भव है आप में से बहुतों ने योग शास्त्र के अनुशीलन से देखा होगा, कि श्वास लेने के समय सारे शरीर को प्राण के द्वारा पूर्ण करो, इस तरह लिखा हुआ है। अंग्रेजी के अनुवाद में प्राण शब्द का अर्थ श्वास किया हुआ है। इससे आपको सहज में ही सन्देह हो सकता है, कि श्वास के द्वारा सारा शरीर कैसे पूर्ण किया जा सकता है? परन्तु वास्तव में यह अनुवादक का दोष है। क्योंकि शरीर का समस्त भाग प्राण अर्थात् जीवनी-शक्ति द्वारा पूर्ण किया जा सकता है; और जब आप इसमें सफल हो जायेंगे, उसी समय संसार में जितने प्रकार के शरीर हैं, उन सब के ऊपर आपका अधिकार हो जायेगा। शरीर के सब रोग, सब दुःख आपकी इच्छा के आधीन हो जायेंगे। केवल यही नहीं है आप दूसरे के शरीर के ऊपर भी अपनी क्षमता दिखाने में समर्थ हो जाओगे। संसार में भली बुरी जो कुछ भी वस्तु हैं, वह सब की सब संक्रामक (एक दूसरे पर अपना प्रभाव करने वाली) हैं। मानलो आपका शरीर यन्त्र जैसे किसी एक विशेष सुर (सुरति) में बंधा हुआ है। तुम्हारे पास जो व्यक्ति रहेगा, उसके भीतर भी वही सुरति आने का उपक्रम हो जायेगा। यदि आप का शरीर बलवान् अर और स्वस्थ होगा, तो आपके समीप रहने वाले व्यक्तियों में भी स्वाभाविक प्रति क्रिया से कुछ स्वास्थ्य व बल आजायेगा; और यदि आप रोगी व दुर्बल होगे, तो आपके समीप रहने वाले लोगों में भी कुछ रोग व दुर्बलता आजायगा।

देख पाओगे। आपका शारीरिक कम्पन ही इस तरह दूसरों में संचारित हो जायेगा।

जब एक आदमी दूसरे के रोग को आराम करनेकी चेष्टा करता है, उस समय उसकी सबसे पहिली चेष्टा यह होती है, कि वह अपने स्वास्थ्य को दूसरे में प्रविष्ट करदे। यह ही प्राचीन अवस्था की चिकित्सा प्रणाली है। जान बूझ कर या अनजान में एक व्यक्ति अपने से दूसरे व्यक्ति के शरीर में अपना स्वास्थ्य प्रदान कर सकता है। बलवान् व्यक्ति यदि किसी दुर्बल के पास हमेशे रहता रहे, तो वह निर्बल व्यक्ति कुछ न कुछ बलवान् अवश्य हो जायेगा। यह बल प्रदान करने का काम जाने बूझे भी हो सकता है, और अन-जान दशा में भी हो सकता है। जब यह प्रक्रिया जान बूझ कर की जाती है, उस समय इसका काम अपेक्षा से अधिक शीघ्र व उत्तम प्रकार से होता है। और एक प्रकार की आरोग्य करने की प्रणाली है, इसमें आरोग्य करने वाले के स्वयं बलवान् न होने पर भी दूसरे के शरीर में स्वास्थ्य-संचार कर सकता है। इन सब क्रियाओं में इस आरोग्यकारी व्यक्ति को कुछ २ प्रमाण में प्राण जयी समझना चाहिये। क्यों कि वह कुछ क्षण के लिये अपनी प्राण शक्ति में एक प्रकार की विशेष-गति उत्पन्न करके दूसरे के शरीर में उसको पहुँचा देता है।

बहुत समय यह काम बहुत दूर २ तक भी किया गया है। वास्तव में यदि दूरत्व का अर्थ क्रमविच्छेद (Break) हो, तो तब दूरत्व नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। ऐसा दूरत्व कहां है, जहां परस्पर एक दूसरे का कुछ भी सम्बन्ध या कुछ भी योग (मिलन) न हो? जैसे सूर्य और आपका शरीर इन दोनों में क्या कुछ व्यवधान है? बस केवल एक वही अविच्छिन्न वस्तु दोनों में एक समान अन्तराल रहित हो विराज रही है; आप उसके एक अंश हो और सूर्य उसका और एक भाग है। नदी के एक किनारे व दूसरे किनारे में क्या क्रम विच्छेद है? जब नहीं तब यह (प्राण) शक्ति एक ओर से दूसरी ओर तक कैसे नहीं फिर सकती? यदि फिर शक्ति है, तब इसके विरुद्ध कोई युक्ति नहीं दी जा सकती। यह सब बातें जो वर्णन की जा रही हैं, यह सब सत्य हैं। इस प्राण को ही अधिक से अधिक दूर तक पहुँचाया जा सकता है। परन्तु यह अवश्य ऐसा हो सकता है, कि इस विषय की एक घटना यदि सत्य प्रमाणित होगई है, तब ये सैकड़ों घटनायें केवल असत्य ही हैं और कुछ नहीं।

अधिकांश स्थानों पर देखा जाता है, कि स्वास्थ्य कारी मनुष्य शरीर के स्वाभाविक स्वास्थय की सहायता लेकर अपने स्वास्थ्य प्रदान सम्बन्धि सब कामों को चलाता है। संसार में ऐसा कोई रोग नहीं, कि जिससे रोगी होने पर अधिकांश रोगी मृत्यु के घाट उतर जांय, यहां तक, कि विसूचिका महा-

मारी में भी यदि कुछ दिन तक आरम्भ में सैकड़ा पीछे ६० रोगियों की मृत्यु होती है, तो देखने में आया है, कि क्रमशः यह मृत्यु का नम्बर कम होकर सैकड़े पीछे ३० पर पहुँच जाता है, और पीछे २० तक पहुँच जाता है; और बाकी सब रोग मुक्त हो जाते हैं।

मानलो, इस रोग में एलोपैथिक चिकित्सा की जाय, और होमियो पैथिक चिकित्सा भी की जाय और रोगियों को दोनों का औषधियां पृथक् २ करके दी जाने पर, सम्भवतः एलोपैथि की अपेक्षा होमियो पैथिक चिकित्सा से अधिक रोगियों को आराम हुआ, तो इसमें होमियो पैथिक चिकित्सा के अधिक सफल होने का कारण यह है, कि उसने रोगी के शरीर में कुछ और गड़बड़ न करके, केवल प्रकृति को अपनी शक्ति भर काम करने का मौका दिया है। इस अवस्था में विश्वास बल से चिकित्सा करने वाला और भी अधिक आरोग्य करने में समर्थ हो सकेगा। क्योंकि वह अपनी इच्छा शक्ति के द्वारा काम करके रोगी की अव्यक्त प्राण-शक्ति को प्रबोधित (जागरित) कर देता है।

परन्तु विश्वास बल से आरोग्य करने वालों को हर समय ही एक भ्रम हो जाता है; और वह यह, कि उनका विश्वास रहता है, कि हर समय केवल विश्वास ही रोगी

को रोगमुक्त करदेता है। वास्तव में यह दृढ़ता पूर्वक नहीं कहा जा सकता, कि विश्वास ही इस रोग मुक्ति का एक मात्र कारण है। बहुत से ऐसे रोग हैं, जिनमें रोगी पहिले तो नहीं समझ सकता, कि उसके जो यह लक्षण सत्य है, वही रोग है। रोगी का अपनी आरोग्यता के विषय में अत्यधिक विश्वास ही उसके रोग का एक प्रधान लक्षण होता है और इससे शीघ्र उसकी मृत्यु होने की ही सूचना मिलती है। इन स्थानों पर केवल विश्वास से ही रोग आराम नहीं होता। यदि विश्वास से ही रोग आराम होता, तो ये सब रोगी भी मृत्यु की शरण में न पहुँचते, यथार्थ में इस प्राण की शक्ति से ही रोग मुक्त होता है। कोई भी प्राण जित्, पवित्रात्मा पुरुष अपनी प्राण शक्ति को एक निर्दिष्ट कम्पन के द्वारा ले जाकर उसको दूसरे में पहुंचा कर उसके शरीर में भी उसी प्रकार का कम्पन उत्पन्न कर सकता है। आप हमारे प्रतिदिन की घटना से ही इस बात का प्रमाण पा सकते हो। जैसे मैं वक्तृता देता हूं उस समय मैं करता क्या हूं? मैं अपने मनके भीतर एक तरह का कम्पन (स्फुरण) उत्पन्न करता हूं और मैं इसमें जितना ही सफल होता हूं, श्रोतागण मेरे वाक्यों से उतने ही अधिक मुग्ध हो जाते हैं। आप सब ही जानते हो, कि व्याख्यानदेते २ जिस दिन मैं खूब तन्मय हो जाता हूं, उसदिन मेरा व्याख्यान आपको अधिक से अधिक अच्छा लगता है; और मेरी यह उत्तेजना कम होने पर, आपको भी फिर मेरी वक्तृता सुनने में आकर्षण नहीं होता।

जो महान् आत्मायें अपनी इस महा शक्ति का संचार करके इस जगत् को बहुत अधिक ऊंचा उठा गये हैं, उनमें से जिन महापुरुषों ने अपने प्राण में खूब उच्च कम्पन उत्पन्न करके इस प्राण शक्ति का वेग जितना ही अधिक शक्ति शाली बनाया है; वह उतना ही अधिक दूसरे पर क्षण भर में अपना प्रभाव कर सके; जिससे सैकड़ो लोग उनकी ओर आकृष्ट और संसार भर के आधे लोग उनके भाव के अनुसार वर्त्तने लग जाते हैं।

संसार में जितने भी महा पुरुष हुए हैं वे सब के सब प्राणजित् थे। इस प्राण संयम के बल से ही वे महान् शक्ति शाली हुए थे वे अपने प्राण के भीतर अत्यधिक उच्च कम्पन उत्पन्न कर सक्ते थे और इससे ही उनको समस्त संसार के ऊपर अपना प्रभाव विस्तार करने की शक्ति प्राप्त हुई थी।

संसार में जितने प्रकार का तेज वा शक्ति का विकाश दिखाई देता है; वह सब का सब प्राण के संयम से उत्पन्न होता है। साधारण मनुष्य इसके अन्तर्निहित यथार्थ सत्य को नहीं समझ सकता। परन्तु इससे अधिक और किसी उपाय से इसकी व्याख्यान भी तो नहीं की जा सक्ती। आपके शरीर में यह प्राण कभी एक तरफ को अधिक और दूसरी तरफ कम हो जाता है। इस तरह प्राण के असामञ्जस्य (असमानता) को ही रोग कहते हैं। पहिले स्थान से अतिरिक्त प्राण को हटाना और दूसरी ओर प्राणके अभाव को पूरा कर देने से ही, रोगी आराम हो जाता है।

किस तरफ अधिक और किस ओर प्राण शक्ति कम है, इसका पता लगाना भी प्राणायाम की एक विशेष क्रिया है। अनुभव शक्ति जितनी ही अधिक सूक्ष्म होगी, मन उतना ही अधिक समझने में समर्थ होगा, कि पैर के अंगूठे में या हाथ की अंगुलियों में जितना अंश प्राण आवश्यक है, वह उतना नहीं है, यह जान सकेगा, और वह उसके इस प्राण के अभाव को पूरा करने में भी समर्थ हो जायेगा। इस तरह की प्राणायाम सम्बन्धी विविध प्रकार की क्रियायें हैं। इन सब को क्रमशः धीरे २ अभ्यास करना होगा। क्रमशः देख पाओगे, कि विभिन्नरूप से प्रकाशित प्राण का संयम और उनको विभिन्न प्रकार से परीचालन करना ही राजयोग का सबसे प्रधान लक्ष्य है। शरीर की सब शक्तियों को संयम कर सकने पर ही प्राण का भी संयम करने में समर्थ हो सकते हैं। जब कोई ध्यान करता है, उस समय वह प्राण का ही संयम कर रहा है, जानना चाहिए।

महान् समुद्र की ओर दृष्टिपात करने पर देख पाओगे कि उसके गर्भ में पर्वत के समान बड़े २ तरङ्गों का समूह विद्यमान है, और उसकी अपेक्षा छोटे तरङ्ग भी हैं। इसके अतिरिक्त छोटे २ बुलबुले (बुद्-बुद्) भी हैं। परन्तु इन सबके पीछे केवल एक अनन्त महा समुद्र वर्त्तमान है। एक ओर यह छोटासा बुद्-बुद् उस अनन्त समुद्र के साथ संयुक्त है, और दूसरी ओर वह सबसे बड़ी पर्वताकार तरङ्ग भी उस महान् समुद्र से संयुक्त है। इसी प्रकार संसार में वर्त्तमान कोई इस पर्वताकार तरङ्ग के सामान

महा पुरुष और कोई उन छोटे बुलबुले के समान साधारण व्यक्ति हो सकते हैं; परन्तु मन के सब ही उस महा शक्ति-समुद्र के साथ समान रूप से संयुक्त हुए होते हैं। इस महाशक्ति के साथ जीव मात्र का ही जन्मगत सम्बन्ध है। जहां पर जीवनी शक्ति का प्रकाश देखोगे, वहां पर ही जानना चाहिए, इसके पीछे एक महान् अनन्त शक्ति का भण्डार विराजमान है। उदाहरण की तौर पर एक छिकरी (वर्षा में खुली जमीन पर सफेद रंग का कोमल छतरी के आकार का पौधे) की ओर देखिये, सम्भवतः यह इतना छोटा व सूक्ष्म हो सकता है, कि इसको अणु-वीक्षण यन्त्र दूरबीन की सहायता से देखना पड़े; इससे देखना आरम्भ करो, देखोगे, वह उस अनन्त शक्ति के भण्डार से क्रमशः अपने में शक्ति को संग्रह कर एक और तरह का आकार धारण कर रहा है। कुछ काल के अनन्तर वह एक पौधे के रूप में परिणत हो जाता है; और फिर वह ही इस दशा से परिवर्तन कर किसी एक पशु के आकार में परिणत हो गया, फिर मनुष्य का आकार धारण कर अन्त में वह ही ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है। इसमें इतनी बात जरूर है, कि प्रकृति के स्वाभाविक नियम के वशवर्ति रहने से इस महान् परिवर्त्तन के होने में लाखों करोड़ों वर्ष लग सकते हैं। परन्तु इतने समय की गिनती ही क्या है? साधना का वेग बढ़ा देने से इससे भी बहुत अधिक समय को संक्षेप में लाया जा सकता है। सिद्ध प्रत्यक्ष दर्शी योगियों का कहना है, कि किसी भी

काम में साधारण चेष्टा करते रहने से उसमें सफल होने में बहुत अधिक समय लग जाता है; परन्तु उस कार्य के साधन में अध्यवसाय का वेग बढ़ा देने से वह अति शीघ्र सिद्ध हो जाता है। मनुष्य इस जगत् के शक्तिपुंज से थोड़ा २ शक्ति लेकर अपना निर्वाह चला सकता है। परन्तु इस प्रकार की गति का अनुसरण कर चलने से एक व्यक्ति को देवयोनि प्राप्त करने में अनुमान से लक्ष वर्ष लग जांय, और इससे भी अधिक उच्च अवस्था प्राप्त करने में ५०००० पचास हजार वर्ष और लग जा सकते हैं। पूर्ण रूप से सिद्धि प्राप्त करने में और ५ लाख वर्ष लग सकते हैं। परन्तु उन्नति का वेग बढ़ा देने से यही इतना लंबा समय बहुत कम किया जा सकता है। यथाविधवत् चेष्टा करने से छः महीने या छः वर्ष के भीतर इसमें सिद्धि कैसे नहीं प्राप्त की जा सकती ? अवश्य ही प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि युक्ति द्वारा ज्ञात होता है, कि इसके लिए कुछ सामापन्न निश्चित समय नहीं है। मानलो, कोई एक वाष्पीय यन्त्र एक निश्चित परिमाण कोयला देने से प्रति घण्टे में दो मील की रफ्तार से जा सकता है। तब उसमें और अधिक कोयला देने से वह और भी अधिक शीघ्र चल सकेगा। इसी प्रकार यदि हम भी तीव्र संवेग—सम्पन्न (प्राण का वेग बढ़ाकर प्रस्तुत) हो जांय, तो इस जन्म में ही मुक्ति कैसे नहीं पा सकते ? बल्कि अवश्य ही प्राप्त कर सकेंगे, क्योंकि सबने ही अन्त में एक न एक दिन मुक्ति पानी है, यह हम जानते हैं। परन्तु हम उस दीर्घ काल में प्राप्त होने वाले दिन की बाट क्यों

देखते रहें ? इसी समय, इसी शरीर द्वारा, इस मनुष्य शरीर से ही हम मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ क्यों न हो जांय ? इस अनन्त ज्ञान व अनन्त शक्ति को अभी क्यों न लाभ कर लें ? जब कि शीघ्र से शीघ्र यह सब कुछ प्राप्त करने के साधन हम में बीज रूप से वर्त्तमान हैं।

आत्मा की उन्नति का वेग बढ़ाकर किस प्रकार थोड़े समय में मुक्ति प्राप्त की जा शक्ति है, । यह ही योग विद्या का एक मात्र लक्ष्य वा उद्देश्य है। अनन्त शक्ति के भण्डार से शक्ति ग्रहण करने की क्षमता बढ़ा कर, किस प्रकार शीघ्र मुक्ति लाभ हो सकेगी और थोड़ा २ करके अग्रसर होकर जब तक सब मनुष्य मुक्ति नहीं प्राप्त कर लेते, उतने दिन तक अपेक्षा न करनी पड़े, योगी योंने इसी का उपाय आविष्कार किया है ; महापुरुष, साधू सिद्धपुरुष कहने से क्या बात सिद्ध होती है ? इससे यह बात प्रकट होती है, कि उन्होंने एक जन्म में ही, समय का संक्षेप करके, साधारण मनुष्य करोड़ों जन्म में जिन सब अवस्थाओं के भीतर से होकर मुक्त होगा, वह सब की सब अवस्थायें ही भोग कर लेते हैं। वे एक जन्म में ही मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। वे और किसी विषय की चिन्ता नहीं करते, तथा मुक्ति के के अतिरिक्त और किसी बात के लिए निश्वास प्रश्वास तक नहीं छोड़ते। वे एक क्षण भर का समय भी व्यर्थ नहीं गँवाते इस प्रकार एक निष्ट वृत्ति से साधन में लग जाने से ही उनके

लिए मुक्ति का समय संक्षिप्त हो जाता है। एकाग्रता का अर्थ ही यह है, कि शक्ति संचय की क्षमता बढ़ाकर समय को संक्षिप्त करना, राजयोग इस एकाग्रता लाभ करने का विज्ञान है।

यहांपर प्रश्न हो सकता है, कि इस प्राणायाम के साथ प्रेत-तत्व का क्यासम्बन्ध है ? इसका उत्तर संक्षेप में यह है, कि यह भी एक विशेष प्रकार का प्राणायाम ही है। यदि यह बात सच हो, कि परलोक गत आत्मा का किसी विशेष दशा में अस्तित्व रहता है, सिर्फ हम उनको देख नहीं सकते, बात केवल इतनी ही है, तो ऐसा होना भी सम्भव है, कि यहीं पर सैकड़ों और लाखों की संख्या में ऐसी आत्मा में वर्त्तमान रहसकती है; जिनको हम देखना, अनुभव करना व स्पर्श नहीं कर सकते। सम्भव है, हम हमेशे ही उनके शरीर के ऊपर से जाते आते हों और यह भी खूब सम्भव है, कि वे भी हमको देख व किसी तरह से अनुभव न कर सकते हों। इस सृष्टि की रचना ही इस तरह की है, मानो एक गोल चक्कर के भीतर दूसरा चक्कर, एक लोक के भीतर दूसरा लोक रक्खा हुआ हो। जो एक लोक (Plane) में निवास करते हैं, वे ही आपस में एक दूसरे को देख सकते हैं। हम पांच ज्ञानेन्द्रिय-विशिष्ट प्राणी हैं। हमारे प्राण का कम्पन अवश्य ही एक विशेष प्रकार का होगा। जिनके प्राण का कम्पन ठीक २ हमारे समान होगा, हम उनको ही देखने में समर्थ हो सकेंगे। परन्तु यदि ऐसे कोई

प्राणि हों, जिनका प्राण हमारी अपेक्षा उच्च कम्पन विशिष्ट हो तो उनको हम नहीं देख सकेंगे । आलोक (प्रकाश) की उज्वलता अत्यधिक बढ़ जाने पर, हम उससे देखने में असमर्थ हो जाते हैं, परन्तु बहुत से प्राणियों के नेत्र इस प्रकार शक्ति विशिष्ट होते हैं, कि वे इस तरह के आलोक में भी देख सकते हैं । इसी तरह आलोक के परमाणुओं का कम्पन यदि बहुत ही मृदु हो, तो भी उसको हम देख नहीं सकते; परन्तु पेचक, (उल्लू) विडाल (बिल्ली) आदि जन्तु उसको देख सकते हैं । हमारी दृष्टि इस प्राण कम्पन के विशेष--प्रकार को ही प्रत्यक्ष करने में समर्थ हो सकते हैं; अथवा उदाहरण के लिए वायू राशी की ही बात लो; वायू मानो स्तर २ में सजाया हुआ है, एक स्तर के ऊपर और एक स्तर वायू टिका हुआ है । पृथिवी के समीप जो स्तर है, वह उससे ऊपर के स्तर से अधिक गाढ़ा है; इससे कुछ और अधिक ऊपर जाने पर देख पाओगे, वायू क्रमशः तरल (पतला) हो रहा है; अथवा समुद्र का ही उदाहरण लो; समुद्र के जितने ही अधिक गहरे से गहरे स्थान में पहुँचोगे; जल का घनत्व (गाढ़ा पन) उतना ही अधिक बढ़ता जायेगा । जो प्राणी समुद्र के तल देश में निवास करते हैं, वे ऊपर कभी भी नहीं आ सकते, क्योंकि अपने स्थान से ऊपर निकलते ही उनकी उसी समय मृत्यु हो जाती है ।

सारे जगत् को ईथर के एक समुद्र के रूप में विचार करो । प्राण की शक्ति से मानों वह स्पन्दित होता है, और स्पन्दित

होकर मानो स्तर २ में भिन्न २ रूप में परिणित हो गया। इस प्रकार हो जाने पर देख पाओगे, कि जिस ओर से स्पन्दन आरम्भ हुआ है, उससे जितना ही अधिक दूर पहुँचा जायेगा, यह स्पन्दन उतना ही अधिक मृदु-भाव से अनुभव होगा। केन्द्र के निकट स्पन्दन अतिद्रुत होता हुआ अनुभव होगा, और एक दूसरी तरह से मानलो, कि यह एक २ तरह का स्पन्दन एक २ स्तर है। इस समस्त स्पन्दन क्षेत्र को एक वृत्त गोलाकार स्थान के आकार में कल्पना करके, फिर देख पाओगे सिद्धि उसकी केन्द्र के समान है। इस केन्द्र से जितना दूर जाओगे, स्पन्दन उतना ही मृदु हो जावेगा। भूत (पृथवी आदि) सब की अपेक्षा बाहरी स्तर है, मन उसकी अपेक्षा निकट वर्ती स्तर है, और आत्मा मानो केन्द्र स्वरूप है। इस प्रकार से विचार करने पर देख सकोगे, कि जो एक स्तर में निवास करते हैं, वे आपस में एक दूसरे को देख और पहिचान सकेंगे; परन्तु उसकी अपेक्षा निम्न व उच्च स्तर के जीवों को देख नहीं सकेंगे। तौभी जैसे हम अनुवीक्षण, दूरवीक्षण की सहायता से अपनी दृष्टि का क्षेत्र बढ़ा सकते हैं; उसी प्रकार हम मनको विभिन्न प्रकार स्पन्दन-विशिष्ट करके अपने से दूसरे स्तर का संवाद अर्थात् वहां क्या हो रहा है, जान सकते हैं मानलो, इस घर में ही ऐसे कुछेक प्राणी वर्तमान हैं, जो हमारी दृष्टि की शक्ति के बिल्कुल बाहर हैं। वह प्राण एक प्रकार स्पन्दन विशिष्ट हैं, और हम स्पन्दन के और एक प्रकार फल-स्वरूप हैं। मानलो

वे अधिक स्पन्दन विशिष्ट हैं और हम अपेक्षा से अल्प-स्पन्दन-शील हैं। हम भी प्राण रूप मूल वस्तु से निर्मित हैं; तब तो हम सब ही एक प्राण-समुद्र के भिन्न २ अंश मात्र हैं। परन्तु भिन्नता केवल स्पन्दन की है। यदि मन को अभी अधिक-स्पन्दन-विशिष्ट कर सकूं, तो मैं फिर इस स्तर में सीमित नहीं रह सकता, और फिर मैं तुमको नहीं देख सकूंगा। तुम मेरे सामने से अन्तर्धान हो (छिप) जावोगे और उस उच्च स्तर के जीव आविर्भूत (प्रकट) हो जायेंगे। आप में से अधिकांश जानते होंगे, कि यह बात बिल्कुल सच है। मन को इस प्रकार अधिक उच्च से उच्चतर स्पन्दन विशिष्ट करने को ही योग शास्त्र में "समाधि" इस एक शब्द से लक्ष्य किया गया है। इस समाधि की निम्नतर अवस्थाओं में इन अतीन्द्रिय प्राणियों को प्रत्यक्ष किया जा सकता है। समाधी की सबसे उच्च अवथा में हमें सत्य स्वरूप ब्रह्म के दर्शन हो जाते हैं। जिस उपादान से इन समस्त नाना प्रकार के जीवों की उत्पत्ति हुई है, तब हम यह सब कुछ जान सकते हैं। जैसे एक मृत्पिण्ड (मिट्टी के गोले) को जान लेने से सब मिट्टी के पिण्डों का ज्ञान हो जाता है, इसी तरह ब्रह्म के दर्शन से ही इस सारे संसार के अन्तर्गत सारे रहस्य का पता लग जाता है।

इस तरह से अब हमें यह विदित हो गया, कि प्रेत तत्व विद्या में जो तथ्य है, वह भी प्राणायाम के ही अन्तर्गत है। इस प्रकार से जब भी तुम देखो, कि कोई एक मंडली या सम्प्रदाय किसी अतीन्द्रिय या गुप्त तत्व के आविष्कार करने की चेष्टा कर रहा है; तब समझ लेना, ये यथार्थ में कुछ थोड़े बहुत परिमाण में इस राजयोग की ही साधना कर रहे हैं अथवा प्राण संयम की ही चेष्टा कर रहे हैं। जहांपर किसी असाधारण शक्ति का विकाश हुआ, वहां पर प्राण की शक्ति समझना चाहिए। यहांतक कि बाह्य-विज्ञान के साधनों तक को प्राणायाम के अन्तर्भूत किया जा सक्ता है। वाष्पीय यन्त्रको कौन चलाता है? यहप्राण ही वाष्प (भाफ) के बीच में होकर उसको चलाता है। यह जो बिजली की अद्भुत क्रिया दिखाई देती है, यह भी प्राण के अतिरिक्त और किस शक्ति का चमत्कार हो सकता है? पदार्थ—विज्ञान कहने से क्या जाना जाता है? वह बाहिरी उपाय से प्राणायाम व्यतीत और कुछभी नहीं है। प्राण जब अध्यात्मिक शक्ति के रूपमें प्रकाशित होता है, तब उसको आध्यात्मिक उपायों से ही उसको संयम किया जा सकता है। जिस प्राणायाम द्वारा प्राण के स्थूल रूपों को बाह्य उपायों द्वारा जय करने की चेष्टा की जाती है, उसको "पदार्थ—विज्ञान" कहते हैं। और जिस प्रकार के प्राणायाम से प्राण के आध्यात्मिक विकाश को अध्यात्मिक उपायों के द्वारा संयम की चेष्टा की जाती है, उसको ही "राजयोग" कहते हैं।

———

चौथा अध्याय।

प्राण का आध्यात्मिक स्वरूप।

योगियों के मत में मेरु दण्ड (रीढ़ की हड्डी) के भीतर "इड़ा" और "पिंगला" नामक स्नायवीय—शक्ति प्रवाह, और मेरुदण्ड की मज्जा में "सुषुम्ना" नाम की एक शून्य (पोली) नाड़ी रहती है इस शून्य नाली के सबसे निचले भाग में "कुण्डलिनी" शक्ति का आधार भूत—पद्म अवस्थित रहता है। योगियों का का कहना है, कि यह पद्म त्रिकोणाकार है। योगियों की रूपक (रहस्यमय) भाषा में इस स्थान पर यह कुण्डलि नी शक्ति कुण्डल का आकार धारण कर विराजमान है। जब यह कुण्डलिनी शक्ति जागरित हो जाती है, तब वह इस शून्य (पोली) नाली के भीतर वेग से ऊपर की ओर चेष्टा करती है, और जितनी वह एक २ सीढ़ी ऊपर की तरफ उठती है, उतना ही हमारा मन मानो स्तर२ में विकशित होता है। इस समय साधक को विविध प्रकार के अलौकिक दृश्य दिखाई देते हैं, और इस योगी को नाना प्रकार की अद्भुत क्षमतायें (सामर्थ्य) प्राप्त होती हैं। इस प्रकार क्रमशः जब यह कुण्डलिनि शक्ती मस्तक में पहुँच जाती है, तब योगी सम्पूर्ण रूप से अपने शरीर

और मन से अलग होजाता है, और उसका आत्मा अपना मुक्तभाव अनुभव करने लगता है। मेरुदण्ड के भीतर की मज्जा (मेरुमज्जा) एक विशेष अकार प्रकार से बनी होती है इसको हम शारीर-च्छेद द्वारा जान सक्ते हैं। अंग्रेजी के 8 (8) इस अक्षर को यदि लम्बाई के रुख (8) रखाजाय, तो देखने में आयेगा, कि उसके दो भाग हैं, और ये दोनों भाग बीच में परस्पर जुड़े हुए हैं। इस प्रकार से इन अक्षरों को ठीक एक के ऊपर दूसरे को सजा कर रखने से बिल्कुल मेरु-मज्जा का जैसा आकार बन जाता है। इसके बायें भाग में "इड़ा" नामक नाड़ी और दाहिनी ओर "पिंगला" नामक नाड़ी रहती है, और जो एक पोली नाली इस मेरु मज्जा के ठीक बीच में से निकली है, वह ही "सुषुम्ना" नामक नाड़ी है। किसी २ मनुष्य की मेरु-मज्जा, कटि देश (कमर) में स्थित मेरुदण्ड के भाग में वर्त्तमान कुछ अस्थि खण्डों के परे ही समाप्त हो जाती है। ऐसे व्यक्तियों में भी एक बहुत सूक्ष्म वस्तु बराबर नीचे आखिर तक गई हुई होती है। यह सुषुम्ना नाली उस स्थान पर भी वर्त्तमान रहती है; परन्तु इस स्थान पर बहुत सूक्ष्म तो अवश्य ही हो जाती है। नीचे की तरफ से इस नाली का मुख बन्द (बन्द) रहता है। कटि देश में स्थित स्नायु जाल के निकट (Sacral Ploxus) तक ही यह नाली रहा करती है। आजकल के शारीरिक विद्या (ऐनाटोमी, के मत में वह स्थान त्रिकोणाकार होता है। इन सब नाड़ी-समूह का केन्द्र मेरु-मज्जा में रहता है। इन केन्द्रों कोही योगियों के बताये हुए भिन्न २ पद्मों (कमलों) के स्वरूप में माना जा सका है।

योगियों का कहना है, कि सबसे नीचे मूलाधार से आरम्भ करके सबसे ऊपर मस्तक में स्थित सहस्त्रार (सहस्त्र-दल पद्म) चक्र के बीच के स्थान में कुछ केन्द्र भूमिकायें रहते हैं। यदि हम इन चक्रों को भिन्न २ नाड़ी—जाल मानलें, तो आधुनिक शारीरिक शास्त्र की सहायता से सहज में ही योगियों की इस बात का रहस्य समझ सकते हैं। हम जान सकेंगे, हमारे इन चैतन्य स्नायुओं में दो प्रकार का प्रवाह वर्त्तमान है। इनमें से एक को अन्तर्मुखी (ज्ञानात्मक) और दूसरे को वहिर्मुखि (गत्यात्मक) कह सकते हैं इसी तरह एक को केन्द्राभिमुखी (मूल स्थान की ओर कार्य करने वाला) और दूसरे को केन्द्र-ासारी (मूल स्थान से बाहर की ओर अपना कार्य कलाप विस्तार करने वाला) कहा जा सकता है। इनमें से एक मस्तिष्का भिमुख (मस्तक की तरफ) बाहर का ज्ञान (समाचार) पहुँचता है, और दूसरा मस्तिष्क से बाहर के संवाद (उसका प्रत्युतर) लाता है। अन्त में इन द्विविध प्रवाहों का मस्तिष्क के साथ संयोग होता है। इसके अतिरिक्त हमें इस विषय में एक बात और भी जान लेना चाहिये, कि समस्त चक्रों में सब से नीचे का (१) "मूलाधार" पद्म मूलाधार के ठीक ऊपर स्थित (२) "स्वाधीष्ठान पद्म" इसके ऊपर नाभि देश के निकट (३) "मणिपुर-पद्म" इसके कुछ ऊपर हृदय देश के समीप (४) "अनाहत-पद्म" इससे कुछ

ऊपर कण्ठ देश के समीप (५) "विशुद्धाख्य-पद्म" दोनों भँवों (भुवों) के मध्य भाग में (६) "आज्ञा—पद्म" तथा इसके कुछ ऊपर मस्तक में (७) "सहस्र—दल-पद्म" रहते हैं। इन के विषयमे समझ रखना विशेष आवश्यकीय है। पदार्थ विज्ञान से एक और बात की भी हमें सहायता लेनी होगी; और वह यह है, कि तड़ित (बिजली) नाम से परिचित पदार्थ व उससे सम्बन्धित अन्यान्य शक्तियों की बात जो सुनने में आती है; इसको भी ध्यान में रखना होगा। तड़ित क्या वस्तु है, इसको अब तक कोई भी नहीं जानता, परन्तु फिर भी हम इसके विषय में इतना अवश्य जान सकते हैं, कि यह तड़ित एक विशेष प्रकार की गति है।

संसार में विविध प्रकार की गतियों का प्रकाश देखने में आता है। तब यहां पर प्रश्न हो सकता है, कि तड़ित नाम से प्रसिद्ध गति विशेष के साथ इनका क्या भेद है? इसको समझने के लिए एक टेबुल (मेज) का उदाहरण सामने रखते हैं, मानलो, एक मेज इस प्रकार से संचालित होता है, कि जिससे उसके परमाणु विभिन्न दिशाओं में संचालित होते हैं। यदि इस मेज के समस्त परमाणुओं को निरन्तर एक तरफ को सञ्चालित किया जाय, तो वह ही विद्युच्छक्ति (बिजली की शक्ति) के आकार में परिणत हो जायेगा। किसी भी पदार्थ के सम्पूर्ण परमाणुओं के एक तरफ प्रवाहित होते रहने को ही "वैद्युतिक गति" कहते हैं।

एक और उदाहरण—इस घर में जो वायू पुंज वर्तमान है, इसके समग्र परमाणुओं को यदि क्रमशः एक दिशा में प्रवाहित किया जाय, तो वह एक महान् विद्युताधार-यन्त्र (Battary) के आकार में परिणत हो जायेगा।

आधुनिक शारीरिक-शास्त्र की एक और बात भी हमें समझ लेना चाहिये, ÷ और वह यह है, कि जो "स्नायुकेन्द्र", श्वास-प्रश्वास यन्त्र (फुस्फुस) की गति को नियन्त्रित करता है; उसका कुछ २ प्रभाव सारे शरीर के स्नायुओं के ऊपर भी रहता है। यह केन्द्र छाती के ठीक पीछे की तरफ मेरुदण्ड में रहता है, और योगियों की भाषा में इसको "अनाहत-पद्म" कहा गया है। यह श्वास-प्रश्वास यन्त्र की क्रिया को भी नियन्त्रित करता है, और जो दूसरे स्नायु-चक्र शरीर में वर्तमान हैं, उनके ऊपर भी कुछ थोड़ा बहुत अपनी क्षमता रखता है।

अब हम "प्राणायाम" साधन का कारण अच्छी तरह से समझ सकेंगे। इसको सुगमतया समझने के लिए, इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है, कि सब से पहिले यदि हम श्वास-प्रश्वास की गति को नियमित कर सकें, तो शरीर के सम्पूर्ण परमाणुओं की गति एक तरफ होने का उपक्रम हो जायेगा। इसको और भी स्पष्ट करने के लिए, योगियों की भाषा में इस प्रकार समझाया गया है, कि जब नानादिक्-गामी मन इन

विभिन्न-दिशाओं में न जाकर, एक ओर (एक मुखी) होकर एक ही दृढ़ इच्छा शक्ति (धारण) में परिणत हो जाता है; उस समय सम्पूर्ण स्नायुओं का प्रवाह भी प्रवर्तित हो (पूर्वदशा से पलट) कर एक तरह की विद्युत् के समान गति को प्राप्त कर लेता है। इससे ही मालूम होता है, कि जब स्नायु-प्रवाह इस इच्छा-शक्ति के रूप में परिणत हो जाते हैं; तब वे बिजली के समान किसी एक पदार्थ का आकार धारण कर लेते हैं। जब शरीर की सम्पूर्ण गतियां बिल्कुल एक ओर को होकर काम करने लगती हैं, तब यह इच्छा-शक्ति का एक महान्-आधार (भण्डार) स्वरूप में परिणत हो जाती हैं। साधक की साधना का उद्देश्य इसी इच्छा शक्ति को ही प्राप्त करना है। प्राणायाम-विधी का इस प्रकार शारीरिक-विधा की सहायता से व्याख्या की जा सकती है। प्राणायाम द्वारा शरीर में एक प्रकार की एकाभि मुखी (एक ओर लगने वाली) गति उत्पन्न की जाती है; और श्वास-प्रश्वास यन्त्र के ऊपर आधिपत्य (शासन) विस्तार करके शरीर में वर्तमान अन्यान्य चक्रों को भी वश में लाने के लिये सहायता मिलती है। यहां पर योगियों की भाषा में प्राणायाम का उद्देश्य मूलाधार में कुण्डल के (गोल) आकार में अवस्थित कुण्डलिनि शक्ति का उद्बोधन करना (जगाना) है।

हम जो कुछ देखते हैं, कल्पना करते हैं अथवा कोई स्वप्न देखते हैं; वह सब का सब हमें आकाश तत्व में अनुभव करना होता है। यह परिदृश्यमान आकाश, जो साधारणतः प्रत्येक

को ही अपने ऊपरी भाग में नित्य दिखाई देता है, इसका नाम (१) "महा-काश है"। योगी जब दूसरे के मनोभाव को प्रत्यक्ष करता (अनुभव द्वारा जान लेता) है अथवा अलौकिक वस्तुओं का दर्शन करते हैं; तब वह इसको अपने (२) "चिदाकाश" में देख पाते हैं; और जब हमारी अनुभूति विषय शून्य (अचेत) हुई रहती है; उस समय हमारा आत्मा अपने सत् स्वरूप में प्रकाशित होता है; और उस समय उसका नाम (३) "चिदाकाश" दिया जाता है। जब कुण्डलिनि शक्ति जागरित होकर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती है, उस समय जितने भी विषयों का अनुभव होता है, वह सब "चिदाकाश" में ही हुआ करता है। जब वह (कुण्डलिनी) शक्ति इस नाड़ी को शेष सीमामस्तिष्क—में पहुँच जाती है; उस समय साधक को "चिदाकाश" में एक अलौकिक—विषय शून्य—ज्ञान अनुभूत होता है। इसकी और भी अधिक स्पष्ट व्याख्या करने के लिए, यदि हम तड़ित की उपमा को लें, तो देख पायेंगे, कि मनुष्य केवल तार के द्वारा किसी एक तड़ित-प्रवाह (बिजली के करेण्ट) को एक जगह से दूसरी जगह तक पहुँचा सक्ता है। परन्तु प्रकृति तो स्वयं अपने महान् से महान् शक्ति प्रवाह को इस प्रकार एक ओर से दूसरी ओर भेजने में किसी तरह के तार की सहायता नहीं लेती। इससे यह स्पष्टतया समझ में आ जाता है, कि किसी तरह के भी प्रवाह को चलाने के लिए इस तरह

तार की वास्तव में कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु हम इस तार को काम में लिए बिना अपना कार्य नहीं चला सकते, इसी लिए हमें तार रूपी साधन की आवश्यकता होती है।

हम बाहर से जिस वस्तु को देख या सुन सकते हैं, वह सबका सब ही पहिले शरीर के भीतर और अन्तमें मस्तिष्क में पहुँचता है। इसके अतिरिक्त बाहर जो कुछ क्रियायें होती है, वह सब मस्तिष्क के भीतर से बाहर आती हैं। मेरु मज्जा में स्थित "ज्ञानात्मक" व "कर्मात्मक" ये दोनों तरह के स्नायु गुच्छ योगियों की भाषा में क्रमशः "इँडा" और "पिंगला" नाड़ी के नाम से कहे जाते हैं। इन दोनों तरह की नाड़ियों के भीतर से ऊपर बतलाया हुआ, दोनों तरह का शक्ति प्रवाह का मध्यवर्ति पदार्थ न रहने पर भी मस्तिष्क से चारों ओर विभिन्न प्रकार के संवाद भेजना और नाना स्थानों से इस मस्तिष्क में ही विभिन्न प्रकार के संवाद पहुँचाने का काम कैसे नहीं हो सकता है? प्रकृति में तो इस प्रकार होते दिखाई देता है। योगियों का कहना है, कि इसमें सफल होने पर ही सबके सब भौतिक बन्धनों से परे पहुँचा जा सकता है। अब प्रश्न हो सकता है, कि इसमें सफल होने का उपाय क्या है? उत्तर में संक्षेपतया कहा जा सकता है, कि मेरु दण्ड के मध्य में स्थित सुषुम्ना के बीच में से यदि स्नायु प्रवाह चलाया जा सके, तो यह समस्या हल हो सकती। "मनः शक्ती" से ही यह स्नायू

—जाल निर्माण किया गया है, इस मन को ही यह जाल छिन्न --भिन्न करके, इस नाड़ी—जाल की किसी तरह की साहयता न लेकर अपना काम चला सकने की सामर्थ्य प्राप्त करनी होगी। बस जिस समय मन में यह सामर्थ्य आगई, कि उसी समय सं पूर्ण ज्ञान हमारे आधीन हो जायगा, और फिर शरीर—बन्धन नहीं रहने पावेगा। इस लिए सुषुम्ना नाड़ी को वशवर्ति करने की हमे इतनी अधिक आवश्यक्ता होती है। यदि आप इस शून्य नाली के बीच में से नाड़ी-जाल की सहायता लिए बिना ही अपने मानसिक—प्रवाह को चला सको; तो समझलो आपने इस समस्या की मीमांसा करली है। योगियों का कहना है, कि ऊपर बताये हुए कार्य के सिद्ध होने में कुछ भी असम्भव बात नहीं है।

साधारण लोगों के सुषुम्ना का निचला भाग वद्ध(बन्द)रहता रहता है, जिससे उसके द्वारा कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। योगियों का कहना है, कि इस सुषुम्ना का द्वार उद्घाटित कर उसके द्वारा स्नायु प्रवाह चलाने की एक निर्दिष्ट प्रणाली है। उस प्रणाली (साधना) में सफल होने पर स्नायु प्रवाह इसके भीतर से चल सकता है। जब कोई बाहरी बात किसी केन्द्र में जाकर आघात करती है, उस समय इस केन्द्र से एक तरह की प्रति क्रिया (Reaction) उपस्थित होता है। इस प्रतिक्रिया का फल भिन्न २ स्थानों में विभिन्न रूप से होता है। हमारे शरीर के भीतर जितने भी जुदे २ शक्ति केन्द्र वर्त्तमान हैं, उन सबको

दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। उनमें से एक प्रकार को "ज्ञान-विरहित—गतियुक्त—केन्द्र" (Autometic centre) और दूसरे प्रकार को "चैतन्यमय—केन्द्र" कहते हैं। प्रथम प्रकार के केन्द्र की प्रतिक्रिया का फल केवल गति है, परन्तु दूसरे प्रकार के केन्द्र की प्रति क्रिया में पहिले उस विषय का अनुभव और फिर गति होती है। सबकी सब विषयानुभूति (विषय का ज्ञान) ही, बाहर से हमारे ऊपर जो "आघात" लगता है, उसका ही "प्रतिघात" मात्र है। यदि यही बात है, तो यहां पर यह प्रश्न हो सकता है, कि स्वप्न में हमें कहां से विभिन्न प्रकार की अनुभूतियां हुआ करती है? उस समय तो बाहर से किसी तरह का आघात नहीं लगता। इसलिए यह निश्चित बात मालूम होता है, कि जैसे गत्यात्मक क्रियाएँ शरीर के विभिन्न केन्द्रों में स्थित हैं, अनुभवात्मक क्रियायें भी उसीतरह शरीर के किसी न किसी स्थान में निश्चय ही अव्यक्त भाव से स्थित रहती हैं। उदाहरण के लिए मानलो—हमने किसी एक नगर को देखा; वह नगर नाम से परिचित जो बाहिरी वस्तु वर्त्तमान है, उससे हमारे भीतर जो एक आघात लगा; उसके ही भीतर प्रतिघात (प्रति क्रिया) होती है, जिससे हम इस शहर को अनुभव करने में समर्थ होते हैं; अर्थात् बहिर्वस्तु के द्वारा हमारी स्नायु-मण्डली में जो एक प्रकार की क्रिया उपस्थित होती है, उससे ही मस्तिष्क के भीतर एक प्रकार की क्रिया उपस्थित होकर उसके मध्य में स्थित परमाणु समा-

लित होते हैं। अव प्रकृत प्रस्ताव की ओर दृष्टि रखकर देखो, कि वहुत दिन के अनन्तर भी यह नगर हमारे स्मरण पथ (याद दास्त) में आता है। इस प्रकार की स्मृति भी स्वप्न के समान ही एक विशेष व्यापार है; परन्तु स्वप्न की अपेक्षा कुछ अल्प शक्ति सम्पन्न जरूर है परन्तु वात यह है, कि वह मस्तिष्क के भीतर जो एक सामान्य परिमाण कम्पन उपस्थित कर देता है वह कहां से आता है? वह इस पहिले उत्पन्न विषयानुभूति से ही आता है, यह किसी तरह भी नहीं कहा जा सकता। इससे यह वात स्पष्ट ही प्रतीत होती है, कि यह विषयानुभूति जन्य सम्पूर्ण संस्कार शरीर के किसी न किसी स्थान में सञ्चित रहते हैं, ये संचित संस्कार ही शरीर के भिन्न-भिन्न २ केन्द्रों में अपनी प्रति क्रिया के द्वारा स्वप्न में होने वाली अनुभूति रूप मृदु-प्र-क्रिया को लाता है। जहां पर यह विषयानुभूति-संस्कार-समष्टि सञ्चित रहती है, उसको "मूलाधार" कहते हैं, और इस जगह पर जो क्रिया शक्ति सञ्चित रहती है, उसको "कुण्डलिनी" कहते हैं। सम्भवतः शरीर के भीतर स्थित सम्पूर्ण गति शक्तियां भी इस कुण्डल के आकार में इसी स्थान पर सञ्चित रहते हैं। क्योंकि वाहरी वस्तुओं के विषय में दीर्घ काल तक विचार करने के अनन्तर यह मूलाधार चक्र (सम्भवतः Sacral Pleseus) उष्ण होते देखा गया है। यदि इस कुण्डलिनि शक्ति को जागरित करके ज्ञान पूर्वक सुषुम्ना

नाली के भीतर से एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र में लेजाया जावे, तो इससे एक अतितीव्र प्रतिक्रिया उपस्थित हो जाती है। जब कुण्डलिनि शक्ति का एक सामान्य अंश किसी स्नायु-रज्जू के बीच में होकर प्रवाहित होता है, उस समय वह ही 'स्वप्न, अथवा कल्पना के नाम से कहा जाता है। परन्तु जब दीर्घकाल व्यापि ध्यान से सञ्चित यही शक्ति सुषुम्ना-मार्ग से भ्रमण करती है; उस समय जो प्रतिक्रिया होती है, वह स्वप्न, कल्पना अथवा ऐन्द्रिक ज्ञान की प्रतिक्रिया से अनन्त गुण श्रेष्ठ होता है। इसी को ही अतीन्द्रिय अनुभव कहते हैं; और इसी समय ही साधक को ज्ञानातीत वा पूर्ण चैतन्यावस्था प्राप्त होती है। जब वह सम्पूर्ण ज्ञान वा सम्पूर्ण अनुभुति के केन्द्र स्वरूप मस्तिष्क में जा पहुँचती है, उस समय मानो सारे मस्तिष्क से ही एक महान् प्रतिक्रिया उपस्थित होती है। शरीर का प्रत्येक अनुभव शील अंश, अनुभव सम्पन्न प्रत्येक परमाणु से ही प्रतिक्रिया उपस्थित होती है; और इसका फल ज्ञानालोक का प्रकाश या "आत्मानुभूती" होता है। उस समय अनुभूति अथवा अनुभूति की प्रतिक्रिया—स्वरूप जगत के कारण समूह हमें स्पष्ट मालूम पड़ेंगे और उस समय ही हमें "पूर्ण ज्ञान" प्राप्त होगा। क्योंकि कारण को जानलेने पर कार्य का ज्ञान निश्चय होही जाता है।

इस प्रकार विचार करने से देखा गया, कि "कुण्डलिनी" "शक्ति को चैतन्य करना ही "तत्व—ज्ञान" ज्ञानातीत अनुभूति" और आत्मानुभूति" का एक मात्र उपाय है कुण्डलिनी शक्ति को चैतन्य करने के बहुत से उपाय हैं। जैसे (१) किसी २ को केवल मात्र श्री भगवान् के चरणार विन्दों में अगाध प्रेम मग्न हो जाने के बल से ही कुण्डलिनी शक्ति चैतन्य हो जाती है; (२) किसी २ के सिद्धमहात्माओं की कृपा से यह हठात् सहज में ही फल जाती है; (३) और किसी २ के सूक्ष्म ज्ञान—विचार द्वारा यह कुण्डलिनी शक्ति चैतन्य हो जाती है। संसार में जिसको अलौकिक शक्ति वा ज्ञान कहा जाता है; जब कभी कहीं भी उसका कुछ थोड़े परिमाण में भी विकाश देखा जाता है; उसी समय जानना चाहिए, कि कुछ न्यूनाधिक परिमाण में इस कुण्डलिनी शक्ति ने किसी लक्ष्यालक्ष्य युक्ति से सुषुम्ना के भीतर प्रवेश कर लिया है। परन्तु इस पर भी इन अलौकिक घटनाओं में से अधिकांश स्थलों पर यह देखने में आवेगा, कि उस व्यक्ति ने अनजाने एकाएक (हठात) ऐसी कोई साधना कर दी है, कि जिससे उसके अनजाने ही कुण्डलिनी शक्ति कुछ परिमाण में स्वतन्त्र होकर सुषुम्ना में प्रवेश कर गई है। चाहे किसी प्रकार की भी "उपासना" हो,—चाहे वह सोच समझ कर की जाय अथवा अनजाने ही की जाय वह उसको उस एक लक्ष्य तक पहुँचा देगी; अर्थात उससे कुण्डलिनी का कुछ न्यूनाधिक साधना

में एकाग्रता के तारतम्य के अनुसार)कुण्डलिनि शक्ति चैतन्य होगी। जो इतने पर यह समझ बैठते हैं, कि हमारी प्रार्थना का पारितोषिक मिलगया है, वे जानते नहीं हैं, कि प्रार्थना—रूप विशेष मनोवृत्ति के द्वारा वे अपने ही शरीर में वर्त्तमान अनन्त शक्ति के एक बूंद को जागरित करने (जगाने) में समर्थ हुए हैं। इस लिए अज्ञानी मनुष्य विविध उपायों से जिससे भय भीत होकर उपासना करते हैं, योगियों का कहना है, कि वह ही प्रत्येक व्यक्ति के भीतर शक्ति स्वरूप होकर विराजमान हैं। किस उपाय से उसके निकट तक पहुँचा जा सकता है, इस बात को जान लेने पर ज्ञात कर सकोगे, कि हमारे शरीर में स्वभावतः वर्त्तमान यह शक्ति ही हमें अनन्त—सुख देनेवाली है। इसलिए "राजयोग" ही यथार्थ में "धर्म—विज्ञान" है, और यह ही सम्पूर्ण उपासना, समग्र प्रार्थना, विभिन्न प्रकार की साधन पद्धति और सम्पूर्ण अलौकिक घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या है।

पांचवां-अध्याय ।

आध्यात्मिक शक्ति के रूप में प्रकाशित

प्राण—शक्ति का संयम ।

अब हम प्राणयाम की भिन्न २ क्रियाओं के विषय में आलोचना करेंगे। हम पहिले ही बता चुके हैं, कि योगियों के मत में साधना का सबसे पहिला अंग फुस्फुस की गति को नियन्त्रित करना है। हमारा उद्देश्य शरीर के भीतर होने वाली सूक्ष्मतर गतियों का अनुभव करना है। यह जो हमारा मन एकदम--बाहर की ओर आ पड़ा है, इससे वह भीतर की सूक्ष्मानुसूक्ष्म गतियों को इसी कारण अनुभव नहीं करने पाता। जब हम उनको अनुभव करने में समर्थ हो जायेंगे, तब ही हम उनको जय कर सकते हैं। यह स्नायवीय शक्ति प्रवाह शरीर के विभिन्न स्थानों में उसकी प्रत्येक पेशी में जाकर उनको जीवनी—शक्ति देता है; परन्तु हम इस प्रवाह को अनुभव नहीं कर सकते। योगियों का कहना है, कि इसको अनुभव करने की शक्ति हमारे भीतर वर्त्तमान है। इच्छा होने पर हम उनको अनुभव करने का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए श्वास प्रश्वास की गति से आरम्भ करके प्राण की इन सम्पूर्ण विभिन्न गतियों को संयम (अपने वश में) करना होगा। कुछ समय तक इसको कर लेने

से हम शरीर के भीतर की सूक्ष्म से सूक्ष्म गतियों को अपने वश में ला सकेंगे हैं। प्राणायाम की विधिः— अब प्राणायाम की विधि क्रमशः नीचे वर्णन की जाती है। प्राणायाम करने के लिए साधक को एक सीध में समतल भूमि में आसन बिछाकर बैठना चाहिए। शरीर को ठीक सीधा रखना चाहिए। यद्यपि स्नायु गुच्छ मेरुदण्ड के भीतर सुरक्षित दशा में रहते हैं, तोभी वह मेरुदण्ड से संयुक्त नहीं रहते। वक्र (टेढ़ा मेढ़ा) हो कर बैठने से मेरु दण्ड के बीच में अवस्थित स्नायु-गुच्छों की क्रिया में कुछ विसृङ्खलता (अनियमितता) आजाती है, इस लिए जिस तरह से वह नियमित रह सके इस विधि से बैठना चाहिए। वक्र (टेढा) होकर बैठ के ध्यान करने की चेष्टा करने से अपनी ही क्षति होती है। शरीर के तीन भाग, जैसे छाती, गर्दन और मस्तिष्क निरन्तर एक रेखा में बिल्कुल सीधा रखना चाहिए। देख पाओगे, इस तरह बैठने का अभ्यास कुछ दिन तक करते रहने से थोड़े समय में ही श्वास प्रश्वास की गति के समान यह बात स्वाभाविक हो जायेगी। इसके अनन्तर स्नायुओं को अपनी इच्छा धीन करने की चेष्टा करनी चाहिए।

प्राणशक्ति का संयम

हम पहिले ही बता चुके हैं; कि जो स्नायु—केन्द्र श्वास प्रश्वास की गति को नियमित करता है, और यह अन्यान्य स्नायु केन्द्रों को नियन्त्रित करता है। इसके लिए श्वासग्रहण

और प्रश्वास त्याग क्रमबद्ध (Rhythmical) करना चाहिए। साधारणतः हम जिस तरह श्वास लेते और प्रश्वास को छोड़ते हैं, वह, नियमित श्वास प्रश्वास नाम के योग्य होही नहीं सकता यह इतना अनियमिततो होता ही है; परन्तु इस पर भी स्त्री और पुरुषों के श्वास—प्रश्वास में कुछ भेद होता है। (१) स्वरशुद्धि

[श्वास—प्रश्वास के] साधन की विधिः—

प्राणायाम साधन की सबसे पहिली क्रिया यह है, कि—पहिले भीतर फुस्फुसों में कुछ निश्चित परिमाण में श्वास को खींचो और बाहर निश्चित परिमाण में प्रश्वास को छोड़ो। इस प्रकार करने से सारा शरीर समभावापन्न (समानस्थिति में) होजायेगा। कुछ दिन इस का अभ्यास करने के अनन्तर इस श्वास प्रश्वास के लेने और छोड़ने के समय ॐ अथवा और किसी ईश्वर वाचक पवित्र शब्द को मन ही मन उच्चारण करना चाहिए। और उसके साथ ही साथ यह भावना करनी चाहिये, कि यह शब्द श्वास के साथ स्तर २ में बाहर आ रहा है और भीतर पहुँच रहा है। इस प्रकार करते रहने से, देखोगे, कि क्रमशः मानो साराशरीर ही साम्यभाव (एक सुर) का अवलम्बन कर रहा है। इस प्रकार की अवस्था प्राप्त हो जाने पर, आप समझ सकेंगे, यथार्थमें "विश्राम" क्या वस्तु है। वास्तव में इस विश्राम के साथ तुलना कर देखने से "निद्रा" को विश्राम ही नहीं कहा जा सकता। जब आपको ऊपर बताये अनुसार विश्राम सुख प्राप्त

होना सुलभ हो जायेगा; तब ही देख सकोगे, कि अत्यधिक थकित स्नायु तकभी मानो इस विश्राम से नवजीवन संग्रह कर रहे हैं। तब आपको यह भी मालूम हो जायेगा, कि इससे पहिले आपको कभी यथार्थ में विश्राम करना मिला ही नहीं। भारतवर्ष में प्राणायामके समय श्वास लेने और छोड़ने की संख्या निश्चितकरनेके लिए, एक,दो, तीन, चार, इस प्रकार की क्रम संख्या से गिनती न करके इसके लिए हम कुछ साङ्केतिक शब्दों का व्यवहार करते हैं। इस लिए ही प्राणायाम करने के समय ॐ अथवा और कोई ईश्वर वाचक पवित्र शब्द को व्यवहार करने के लिए ऊपर बताया गया है।

इस साधना का सबसे "पहिला" फल तो यह देखोगे, कि आपके मुख की शोभा परिवर्त्तित होरही है। मुख के ऊपर शुष्कता और कठोरता प्रकाशक जो रेखायें थी, वे सब अन्तर्हित हो (मिट) गई हैं। उस समय आपका मन शान्ति से परिपूर्ण हो जायेगा। "दूसर" में आपका स्वर बहुत सुन्दर कोमल हो जायगा। हमने ऐसा एक भी योगी नहीं देखा है, जिसका स्वर कठोर हो। कुछ मास तक नियमित अभ्यास करने के अनन्तर ही ये सब लक्षण प्रकट हो जायेंगे। इस प्राणायाम की प्रथम क्रिया को कुछ दिन तक नियमित साधन करने के अनन्तर प्राणायाम की एक और ऊंची साधन प्रणाली का अवलम्बन करना पड़ता है।

(२) नाड़ी–शुद्धि (साधन) कि विधिः— हम

पहिले ही बता आये हैं। कि मेरु-मज्जा के वाम भाग में "इड़ा" और दक्षिण भाग में "पिंगला" नामक दो नड़ियां रहती हैं; जो नाक के बांये और दाहिने नथने से सम्बन्धित रहती हैं। नाड़ी-शुद्धि से यहां पर इन दोनों की क्रियाओं को ही नियन्त्रित करना है। इसके लिए इड़ा अर्थात् बायें नथने से धीरे २ श्वास लेकर फुस्फुसों को वायू से पूर्ण करदो; और इसके साथ २ स्नायु प्रवाह के ऊपर मन को संयम करो; और मन ही मन भावना द्वारा यह लक्ष्य करो, कि आप इस सब विभिन्न स्नायु प्रवाह को इड़ा नाड़ी के बीच में से नीचे को संचारण (लेजा) कर कुण्डलिनी शक्ति के आधार स्थान मूलाधार में स्थित त्रिकोण आकार के पद्म के ऊपर खूब जोर से आघात कर रहे हो; इसके बाद इस स्नायु प्रवाह को कुछ समय के लिए उस स्थान में स्थिर रखो। फिर इसके बाद मन ही मन कल्पना करो, कि यह सब का सब स्नायु सम्बन्धी शक्तिप्रवाह को श्वास के साथ दूसरी ओर को खींच रहे हो। फिर दाहिने नथने से वायु को धीरे २ बाहर छोड़ दो। इसका इस तरह से अभ्यास करना पहिले २ आपको कठिन मालूम पड़ेगा। इसलिए इसका सबसे सरल उपाय यह है, पहिले अंगूठे से दाहिने नथने को बन्द करके बायें नथने द्वारा धीरे २ श्वास भीतर को खींच कर फेफड़ों को परिपूर्ण करो। अंगूठा और तर्जनी द्वारा दोनों नथनों को बन्द करदो और तब मनमें यह विचारो, कि आप स्नायु प्रवाह को नीचे की तरफ पहुँचा रहे हो और सुषुम्ना के मूल भाग में उस से आघात कर

रहे हो। इसके बाद अंगूठे को दाहिने नथने से हटा कर वायु को छोड़ दो। फिर पुनर्वार बायें नथने को पहिले तर्जनि अंगुलि द्वारा बन्द करके दाहिने नथने से धीरे २ फुस्फुस में वायु को भर दो, फिर ऊपर बताये अनुसार दोनों नथनों को बन्द कर विचार धारा बहा दो, अन्त में बायें नथने को खोल कर वायु को बाहर छोड़दो। हिन्दुओं (आर्यों) के समान प्राणायाम का अभ्यास करना अन्य देशवासियों व सम्प्रदाय के लोगों के लिए कठिन होगा। क्यों कि हिन्दुओं (आर्यों) में तो बचपन से ही इसका अभ्यास कराया जाता है। उनके फुस्फुस इसके लिए बिल्कुल प्रस्तुत रहते हैं। इसका अभ्यास पहिले पहल चारसेकण्ड समय से आरम्भ कर क्रमशः समय को बढ़ाते रहना ही अच्छा होता है। इसका क्रम इस प्रकार से होगा—चार सेकण्ड तक वायु को फुस्फुसों में पूरण करो, सोलह सेकण्डतक वायु को बन्द रखो (कुम्भक), और ८ सेकण्ड वायु को रेचन करो (छोड़ो) इस तरह एक प्राणायाम होगा। परन्तु इस समय मुलाधार में स्थित त्रिकोण के उपर मन स्थिर रखने की बात न भूलनी चाहिए। क्योंकि इस प्रकार की कल्पना से आपके साधन में बहुत सुविधा होगी।

(३) वायु निरोध साधनविधिः— प्राणायाम की तीसरी विधि है। इसको साधन करने के लिए पहिले धीरे धीरे भीतर की तरफ श्वास को चढ़ाना चाहिए, फिर बीच में जरासा भी विलम्ब न करके उस (वायु) को बाहर ही रेचन

करके श्वास को कुछ क्षण के लिए बाहिर ही रोक के रखना चाहिए इस में श्वास भीतर खींचने, बाहर छोड़ने और रोक रखने का समय ऊपर बताये अनुसार समझना चाहिए, पहिले नाड़ी शुद्धि में बताये हुए प्राणायाम से इस का भेद यह है; कि पहिले बताये हुए प्राणायाम में श्वास को भीतर रोक के रखना होता है और इसमें श्वास को बाहर रोक के रखना होता है। यह तीसरे प्रकार का प्राणायाम पहिले बताये हुए प्राणायामों की अपेक्षा सहज साध्य है। जिस प्राणायाम में श्वास भीतर रोक के रखना होता है, उस का अधिक अभ्यास करना अच्छा नहीं होता। इसलिए उस को प्रातः काल के समय अधिक से अधिक बारबार और सायंकालके समय चार बार करके अभ्यास करना चाहिए। पीछे से क्रमशः इसका समय व संख्या बढ़ा सकते हो। इस तरह अभ्यास आरम्भ करने से आप क्रमशः देख पाओगे, कि उत्तरोत्तर बहुत सहज में ही आप इसे करने में समर्थ हो रहे हो; और तुम्हें इससे खूब आनन्द भी प्राप्त होगा इस लिये जब इसका साधन तुम्हारे लिये बहुत सहज हो जाय; तब आप बहुत सावधानी व विचार के साथ इसकी संख्या ४ सेकण्ड से छे सेकण्ड बढ़ा सकते हैं। अनियमित भाव से साधना करने से साधक का बहुत कुछ अनिष्ट भी हो सकता है।

प्राणायाम की ऊपर जो ये तीन प्रक्रियायें वर्णन की गई हैं; अर्थात्—(१) स्वर शुद्धि की विधि (२) नाड़ी शुद्धि की विधि और (३) वायु निरोध समान विधि। इनमें से पहिली और

तीसरी विधि कठिन भी नहीं है और इनसे कुछ अनिष्ट होने की भी सम्भावना नहीं है। प्रथमोक्त विधि को जितना ही अभ्यास करते जाओगे, आप में उत्तरोत्तर उतनी ही शान्ति आती रहेगी। इसके साथ ॐ का जप करते हुए अभ्यास करो, देखोगे, कि जब तुम दूसरे कामों में लगे हुए हो, उस समय भी तुम उसका अभ्यास करने में समर्थ होरहे हो। आपको ज्ञात होगा कि आपकी क्रमशः उन्नति हो रही है। इस प्रकार करते २ सम्भवतः किसी एक दिन अधिक साधन करने से, तुम्हारी कुण्डलिनी शक्ति जागरित हो पड़ेगी। जो साधक दिन भर में एक बार व दो बार अभ्यास करें; उन्हें इसका फल केवल शरीर व मन की कुछ स्थिरता व कण्ठ अति सुस्वर हो जायेगा। जो साधक इतने से सन्तुष्ट न होकर साधना में और अधिक अग्रसर होयेंगे, उनकी कुण्डलिनी शक्ति चैतन्य हो जायेगी। कुण्डलिनी शक्ति के चैतन्य होने पर वह साधक देख पायेंगे, कि उनके सामने सारी प्रकृति ही मानो एक नया रूप धारण कर रही है। उसके लिए ज्ञान का दर्वाजा खुल जायेगा। उस समय आपका मन ही आपके लिये अनन्त-ज्ञान-विशिष्ट पुस्तक का काम करेगा। हमने पहिले ही मेरुदण्ड के दो भिन्न २ दिशाओं से प्रवाहित होने वाली "ईडा" व "पिंगला" नामक दो शक्ति-प्रवाहों की बात उल्लेखित की है; और मेरुमज्जा के मध्य देश स्वरूप "सुषुम्ना" की बात भी पहिले बता चुके हैं। यह ईडा, पिंगला और सुषुम्ना प्रत्येक प्राणी के शरीर में वर्तमान रहती हैं। जिन प्राणियों को मेरु दण्ड

है, उनके भीतर इन तीनों प्रकार की भिन्न २ क्रियाओं की प्रणालियां हैं। परन्तु योगियों का कहना है, कि साधारण जीवों में यह सुषुम्ना पोली न रह कर बन्द रहती है; इस लिये इसके भीतर किसी प्रकार की क्रिया का अनुभव नहीं किया जा सकता। परन्तु ईडा व पिंगला इन दोनों नाड़ियों का काम अर्थात् शरीर के भिन्न २ प्रदेशों में शक्ति को पहुँचाना, यह सब प्राणियों में ही वर्तमान रहता है।

केवल योगियों में ही यह सुषुम्ना खुली रहती है। जब सुषुम्ना के बीच में से स्नायविक शक्ति प्रवाह चलने लगता है और उसके भीतर चित्त की क्रिया होती रहती है; उस समय हम अतीन्द्रिय राज्य में चले जाते हैं। हमारा मन उस समय अतीन्द्रिय, ज्ञानातीत व पूर्ण चैतन्य आदि नाम की अवस्थाओं को प्राप्त करता है। उस समय हम बुद्धि के परे के प्रदेश में चले जाते हैं, अर्थात् उस समय हम एक ऐसे स्थान में पहुँच जाते हैं, जहाँ तक युक्ति-तर्क पहुँच ही नहीं सकते। इस सुषुम्ना को उन्मुक्त करना (खोलना) ही योगी का एकमात्र उद्देश्य होता है।

शक्ति वहन केन्द्र—पहिले जिन शक्ति वाहक केन्द्रों का उल्लेख कर आये हैं, योगियों के मत में, ये सब सुषुम्ना में ही अवस्थित हैं। उनकी रूपक (रहस्यमय) भाषा में इनको पद्म कहते हैं। इन पद्मों में से सब से नीचे वाला सुषुम्ना सब से निचले भाग में रहता है। इनका नाम यथाक्रम से नीचे से ऊपर

को यथा—(१) मूलाधार, उसके ऊपर (२) स्वाधिष्ठान, उसके ऊपर (३) मनिपुर, उसके ऊपर (४) अनाहत (५) विशुद्ध (६) आज्ञा और सबसे अन्त में (७) मस्तिष्क में स्थित सहस्रार व सहस्र दल पद्म। इनमें से विशेषतः हमें दो केन्द्रों (चक्रों) की बात ज्ञात रखना आवश्यकीय होता है। पहिला सब से नीचे अवस्थित मूलाधार व दूसरा सब से ऊपर अवस्थित सहस्रार पद्म। सबसे निचले मूलाधार पद्म में ही समस्त शक्ति अवस्थित रहती है; और उस शक्ति को इस स्थान से उठा कर मस्तिष्क में स्थित सब से ऊपर के सहस्रार चक्र में पहुँचाना होता है। योगियों का कहना है, कि मनुष्य शरीर में जितनी भी शक्तियां रहती हैं उनमें से सबसे श्रेष्ठ शक्ति "ओज" धातु है। यह ओज़ः मस्तिष्क में संचित रहता है। जिसके मस्तिष्क में जितना ही अधिक ओज संचित रहता है, वह उतने ही अधिक परिमाण में बुद्धिमान व आध्यात्मिक बल से बली होता है। इस (ओज) धातु की यही सर्वोत्तम शक्ति है। उदाहरण के लिये, एक व्यक्ति खूब सुन्दर भाषा में अति सुन्दर भावों को व्यक्त करता है, यही नहीं, बल्कि उसकी बातों में लोग मुग्ध हो रहे हैं। यह किसके आधार पर ऐसा होता है? ओज शक्ति शरीर से बाहर होकर इस अद्भुत कार्य को करती है। इसी ओजः शक्ति सपन्न पुरुष जो कुछ भी काम करते हैं, उसमें ही इस महा-शक्ति का विकास देखने में आता है।

सबके सब मनुष्यों के बीच में ही न्यूनाधिक मात्रा में यह ओज शक्ति वर्तमान रहती है। शरीर में जितनी भी शक्तियां

क्रीड़ा (विहार) करती हैं, उन सबको उच्चतम विकाश यही ओजः है। हमें यह हमेसे मालूम रहना चाहिये, कि एक शक्ति ही दूसरी शक्ति के रूप में प्रवर्त्तित होती है। बहिर्जगत् में जो शक्ति ताड़ित वा चौम्बुक-शक्ति के रूप में प्रकट होती है; वह क्रमशः आभ्यन्तरिक शक्ति के रूप में परिणित हो जायेगी, पैशिक-शक्तियां भी ओज के रूप में परिणित हो जायेंगी; और हमारे शरीर में वर्तमान सब से निचला केन्द्र इस शक्ति का नियामक है, इस लिये योगियों का विशेष करके इसी की ओर लक्ष्य रहता है। इससे उनका यह प्रयोजन होता है, कि सम्पूर्ण काम शक्ति (वीर्य) को ओजः धातु में परिणित किया जाय। काम-जयी नर-नारी ही केवल इस ओजः धातु को मस्तिष्क में संचित रख सकते हैं। इस लिये ही सब देशों में ही 'ब्रह्मचर्य' पालन करना सर्वश्रेष्ठ धर्म के रूप में परिणित हो गया है।

मनुष्य सहज में ही देख सकता है, कि काम चेष्टा के आधीन रहने पर, मनुष्य का सबके सब धार्मिक भाव, चरित्रबल और मानसिक तेज यह सब के सब चले जाते हैं। इसी लिए ही देखोगे, संसार में जिन २ धर्म संप्रदायों में से बड़े २ धर्मवीरों ने जन्म ग्रहण किया है, उन २ संप्रदायों में ही ब्रह्मचर्य पालन के विषय में लोगों का विशेष लक्ष्य रहा है। इसी लिए विवाह से विमुख सन्यासियों के दल की उत्पत्ति हुई है। इस लिए ब्रह्मचर्य व्रत को ठीक २ तरह से शरीर-मन व वाणी से पालन करना नितान्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य पालन के विना इस राज-

योग विद्या का साधन करना बहुत ही विपद् संकुल होता है। क्योंकि इससे यहां तक कि मस्तिष्क विकृत तक हो जा सकता है अर्थात् साधक पागल तक हो जा सकता है। यदि कोई राज-योग का अभ्यास करना चाहे, और साथ ही अपवित्र (दुश्चरित्र) जीवन भी बिताना चाहे, तो वह किस तरह से प्राणजित् योगी होने की आशा कर सकता है।

आचार हीनो न पुनन्ति वेदाः ॥

पूर्वार्द्ध समाप्त।

लीजिये

क्या

दीर्घ जीवन

किसलिये

सौ वर्ष जीने के लिये

यदि आप यह जानना चाहते हैं कि हवा, पानी, भोजन, सूर्य-प्रकाश और व्यायाम आदि का उपयोग क्यों करना चाहिये। वे हमारे जीवन के लिये कितने आवश्यक हैं। उनमें कैसे बिगाड़ पैदा होता है, तो आप इस पुस्तक को अवश्य पढ़िये। यही एक पुस्तक आपको वैद्यों, हकीमों और डाक्टरों के शरण में जाने का मौक़ा न देगी। दीर्घ जीवन की इच्छा करनेवाले व्यक्ति को इसका एक-एक शब्द हृदय-पटल पर अंकित करलेना चाहिये। भाषा सरल, छपाई, सफाई चित्ताकर्षक; पृष्ठ संख्या ६४ मूल्य ।) चार आने

पता:—ला० मिट्ठनलाल अग्रवाल
बुकसेलर व स्टेशनर (देहरादून,)

उत्तरार्द्ध प्रारम्भ।

पृष्ठ १ से ११२ अर्थात् (७ फार्म) उत्तरार्द्ध तक अभय प्रेस, देहरादून में छपा।

टाइटिल पेज पर स्वा० विचारानन्द जी का नाम बिना उनकी स्वीकृति से दूसरे प्रेस में प्रकाशक ने प्रकाशित किया है, जिसके उत्तरदाता इस पुस्तक के प्रकाशक श्री स्वा० हरिहरानन्द जी हैं।

छठा अध्याय ।
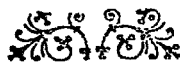
प्रत्याहार व धारणा ।

प्रणायाम सिद्ध होने के अनन्तर प्रत्याहार का साधन करना होता है। तो यहां पर प्रश्न यह उठता है, कि यह प्रत्याहार क्या है? इस के उत्तर में पूर्व प्रसंगों से आप सब जान ही चुके हैं कि किस तरह से विषयानुभूति होती है। इस बात को और भी अच्छी तरह से समझने के लिए, सबसे पहिले इस ओर देखो, कि हमारे शरीर में इन्द्रिय-द्वार-स्वरूप बाहर के शारिरिक यन्त्र (इन्द्रियां) रहती हैं; फिर इन इन्द्रिय-गोलकादि के भीतर रहने वाली इन्द्रियां रहती हैं ये इन्द्रियां मस्तिष्क में स्थित स्नायुकेन्द्रों की सहायता से शरीर के ऊपर अपना २ कार्य करती हैं फिर इसके बाद मन रहा करता है। जब ये सब के सब एकत्रित होकर किसी बाहरी वस्तु के साथ संलग्न होती हैं, बस तब ही हम उस वस्तु को अनुभव कर सकते हैं। परन्तु केवल मनको एकाग्र करके किसी इन्द्रिय में संयुक्त करके रखना बहुत ही कठिन श्रम है। क्योंकि मन विषयों का दास बना रहता है।

दुश्चरित्र में प्रवृति और उससे निवृति का उपाय;—

हम सब जगह ही देख पाते हैं, कि सब देशों व संप्रदायों में यह शिक्षा देते हैं, कि **"सज्जन बनो" "सज्जन बनो" "सज्जन बनो"** । इससे यह प्रतीत होता है, संसार में ऐसा कोई बालक नहीं है, कि जिसने **"झूठ न कहना" "चोरी न करना"** आदि २ सत् प्रवृत्ति की शिक्षा न पाई हो। परन्तु इनमें से कोई भी अपने बालकों को इन चोरी, झूठ बोलना आदि दुष्कर्मों से निवृत्त होने का उपाय नहीं बताता। केवल मुंह से बात कह देने से ही कोई काम नहीं हुआ करता। क्योंकि ऐसे थोड़े उपदेशों में बार २ यह प्रश्न उठा करते हैं, कि चोर क्यों न होऊँ? क्योंकि हमने उसको चोरी करने से बचने का उपाय तो बताया ही नहीं है; केवल मुंह से कह मात्र दिया है, कि "चोरी न करना"।

इन सबसे बचने के लिए तथा सन्मार्ग गामी होने के लिए, मन का संयम करने की शिक्षा देने से ही, उसको इन कुप्रवृत्तियों से बचाने में यथेष्ट सहायता की जा सकतीहैं; इससे

ही उसको यथार्थ शिक्षा व उपकार हो सक्ता है। जब मन इन्द्रिय नामक भिन्न २ शक्ति—केन्द्रों में संयुक्त होता है; तब ही हमारे शरीर के भीतरी और वाहरी सबके सब काम होते हैं। इच्छा पूर्वक हो या अनिच्छा पूर्वक हो; मनुष्य अपने मन को स्वभावतः भिन्न २ इन्द्रिय नामक केन्द्रों में संलग्न करने को वाध्य होता है। इसी से ही मनुष्य विविध प्रकार के दुष्कर्मों को करता है, और उनके फल स्वरूप विविध प्रकार के कष्टों को भोगता है। यदि यह मन मनुष्यों के वस में रहे, तो वह कभी भी अन्याय कर्म न करे, बल्कि उच्च कोटी का सच्चरित्रवान बन कर अलभ्य सुख उप भोग करे।

विश्वास बल से आरोग्य कारी व वशीकरण

ईङ्गित की आलोचना:—

मन संयम का फल:—अब प्रश्न उठता है, कि मन संयम करने का फल क्या है? इसका फल यह है, कि मनके संयत होने पर, वह फिर अपने को भिन्न इन्द्रिय रूप विषयानुभूति के केन्द्रों में संलग्न न कर पायेगा। इस से सब प्रकार के भाव व इच्छायें हमारे वस में हो जायेंगी। यहां तक तो यह बात बहुत अच्छी

तरह से समझ गये होंगे। अब आगे समझने की बात यह है, कि इस को कार्य में परिणित करना क्या सम्भव है? उत्तर में कहा जा सक्ता है, कि यह बिलकुल सम्भव है। आप अब इस साधारण दशा में भी इसका कुछ २ आभास देख पाते होंगे विश्वास के बल से आरोग्य-कारी सम्प्रदाय दुःख, कष्ट व अशुभ आदि का अस्तित्व बिलकुल ही अस्वीकार करने की शिक्षा देते हैं। इसमें यह बात अवश्य है, कि इनके दर्शन (मत) की यह बात बहुत कुछ शिर के ऊपर से हाथ को घुमा कर नाक पकड़ने के समान है। परन्तु यह भी एक तरह की योग की प्रक्रिया है, किसी तरह से उन्होंने इसको प्राप्त कर लिया है। जहां पर वे दुःख, कष्ट का अस्तित्व अस्वीकार करने की शिक्षा देकर लोगों का दुख दूर करने में सफल होते हैं, जानना चाहिए उन सब स्थानों में वे यथार्थ में प्रत्याहार के एक अङ्ग की शिक्षा देते हैं क्योंकि वे अपने चिकित्साधीन व्यक्तियों के मन को इतना बलवान कर देते हैं, कि जिससे वे इन्द्रियों की बात प्रमाणिक ही नहीं मानते। वशीकरण विद्या के आचार्य (Hyhnotists) भी ऊपर बताये हुए उपाय को अवलम्बन कर इङ्गित-बल (आज्ञा-Hyhnotic) suggestion) कुछ क्षण के लिए अपने वशवर्ती व्यक्तियों के भीतर एक तरह का अस्वाभाविक प्रत्याहार उपस्थित कर देते हैं। जिसको साधारणतय शीकरण इङ्गित, कहते हैं, वह केवल रोग

ग्रस्त शरीर व मोह ग्रसित मनमें ही इस प्रभाव को पहुंचा सकता है। वशीकरण कारी जब तक स्थिर दृष्टि व और किसी उपाय से अपने वश्य-व्यक्ति के मन को जड़वत् निष्क्रिय अस्वभाविक अवस्था में नहीं लेजा सका; तब तक वह कुछ भी सोचने, देखने व सुनने की आज्ञा क्यों न करे, उसका कुछ भी फल न होगा।

जो वशी करण करते हैं; या विश्वास के बल से आरोग्य करते हैं, वे इस कुछ क्षण के लिए अपने वश वर्ति व्यक्तियों के शारीरिक शक्ति के केन्द्रों (इन्द्रियों) को वशीभूत करते हैं। यह बहुत ही निन्दत काम है। क्योंकि इस वशवर्ति व्यक्ति की वह अन्त में अशेष क्षति का कारण होता है। यह तो अपनी इच्छा शक्ति के सहारे अपने मस्तिष्क में स्थित केन्द्रो का संयम नहीं है। यदि कोई किसी अपने वशवर्ति व्यक्ति को मस्तिष्क के उपर एका एक प्रबल आघात करके कुछ क्षण के लिए उसको मूर्छित करके रखे, तो उससे उसको जो कष्ट अनुभव होता है; यह भी उसी तरह की कैद जैसे है। यह रज्जु (रस्सि) या पैशिक शक्ति की सहायता से गाड़ी को खींचने वाले उच्छृङ्खल घोड़ों की गति को रोकना जैसा तो नहीं है। वह दूसरे को उन घोड़ों के ऊपर तीव्र आघात करने को कहने के सामान, उनको कुछ क्षण के लिए निश्चल करके शान्त रखने के समान है। उस व्यक्ति के ऊपर यह प्रक्रिया

जितनी ही की जावेगी, उतना ही वह उसके मन की शक्ति को कुछ २ अंश में नष्ट करता है जिसके फल स्वरूप अन्त में मन को सम्पूर्ण रूप से जय करना बहुत दूर की बात है; बल्कि क्रमशः उसका मन एक तरह से शक्तिहीन किम्भूत-किमाकार (शून्य जैसा) हो जाता है; और अन्त में वह वातुल (पागल) की अवस्था में परिणित हो जाता है।

इस प्रकार दूसरे की इच्छा शक्ति के आश्रित संयम से केवल अपकार ही होता है, यह बात नहीं है; बल्कि वह जिस उद्देश्य से किया जाता है, बहुत बार वह भी सिद्ध नहीं होता। प्रत्येक जीवात्मा का ही चरम लक्ष मुक्ति वा स्वाधीनता प्राप्त करना होता है; और यह स्वाधीनता प्राप्त कर इन्द्रियां व मनके ऊपर प्रभुत्व, पंच महा भूत व मन की दासता से मुक्त होना, और बाह्य व अन्तः प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व वा क्षमता विस्तार करना है। ऊपर बताई हुई प्रक्रिया से यह सब कुछ भी प्राप्त नहीं होता—चाहे इससे साक्षात सम्बन्ध से हमारी इन्द्रियां वशीभूत हो जांय, अथवा वह एक तरह पीड़ित वा विकृत अवस्था में हमे इन्द्रिय गण को वस में करने के लिए बाध्य करे—परन्तु इस तरह जबरन करने से वह हमे मुक्ति के पथ पर न लेजा कर; बल्कि हम जिन चित्तवृत्ति रूप बन्धनों में (जिन सब प्राचीन कुसंस्कारों के कारण) बंधे हुए हैं उनके ही ऊपर और एक बन्धन (और एक कुसंस्कार) डाल देता

है। इस लिए सावधान हो जाना चाहिए; अब आगे से किसी दूसरे को अपने ऊपर पथेच्छ-शक्ति- संचालन न करने देना। बिना जाने बूझे किसी दूसरे के ऊपर इस प्रकार अपनी इच्छा शक्ति का प्रयोग कर उसका सर्वनाश करना। यह बात सत्य है, कि बहुत से इस प्रकार अपनी इच्छा शक्ति का प्रयोग कर बहुत से लोगों के मन की गती का कु संस्कारों से हटा कर सत् प्रवृत्ति की ओर फिरा कर कुछ दिन के लिए उनका बहुत उपकार करते हैं। परन्तु इसके विपरीत दूसरे के ऊपर अपनी क्षमता को प्रयोग कर, अनजाने, कितने लाखों स्त्री-पुरुषों को एक तरह से विकृत जड़ स्वरूप बना देते हैं, जिससे उनकी आत्मा का अस्तित्व बिल्कुल नष्ट हो जाता है, जिसकी कुछ हद नहीं होती। इस लिए जो कोई तुम्हें इस प्रकार अन्ध विश्वास करने को कहे, या अपनी इच्छा-शक्ति के बल से संसार में लोगों को परिचालित करके उनको अपने वश में कर लेते हैं; उनके मन में इस प्रकार सबको अपने आधीन बनाये रखने का दुष्ट संकल्प न रहने पर भी वास्तव में वे मनुष्य जाति के शत्रु समझने चाहियें।

क्षणिक प्रभावित कारी धर्म प्रचारकों की आलोचना;—

इस लिए दूसरे की शक्ति पर अवलम्बित न रह कर हमेशा अपने मनको ही व्योहार करना सबसे अच्छा

होता है। और यह एक बात हमेशा स्मरण रखनी चाहिये, कि यदि तुम किसी रोग-ग्रस्त न होवो, तो किसी दूसरे व्यक्ति की शक्ति तुम्हारे ऊपर कुछ भी कार्य न कर सकेगी; और कोई व्यक्ति कितना ही संमृद्ध या साधु क्यों नहो; वह यदि तुम्हे अन्ध बनाकर विश्वास करने को कहे, तो जहांतक होसके उसकी बात पर विश्वास करना तो दूर रहा, उसकी संगति शीघ्र ही छोड़ देने की चेष्टा करनी चाहिए सब जगह ही देखने में आता है, कि संसार में यह एक प्रकार का संप्रदाय है, नाचना, खेलना-कूदना और चिल्लाना जिनके धर्म का एक अङ्ग है। ये जिस समय गाना, नाचना व अपने मत का प्रचार करना आरम्भ करते हैं; उस समय उनकी भावधारा संक्रामक रोग के समान लोगों के भीतर अपना प्रभाव विस्तार कर देता है। वे भी इस ऊपर बताये हुए सम्प्रदाय के अन्तरगत हैं; वे क्षण भर के लिए सहज में ही क्षण परिवर्तित स्वभाव वाले व्यक्तियों के ऊपर अपना आश्चर्य जनक प्रभाव डाल देते हैं। किन्तु आश्चर्य है, कि इस तरह भेड़ बकरी के समान इन प्रभावित व्यक्तियों को अपने इशारे पर चला कर, परिणाम में सम्पूर्ण जाति की जाति तक को एक दम अधःपतन के गड्ढे में डाल देते हैं। बाहर से किसी दूसरे इस प्रकार से शक्ति का सहारा पाकर किसी व्यक्ति वा जाति को इस प्रकार अप्राकृतिक उपाय से उन्नत होने की अपेक्षा अनुन्नत रहना ही सबसे उत्तम है। इन सब धर्मोन्मत्त व्यक्तियों का उद्देश्य अच्छा हो सक्ता है; परन्तु इनको अपने किसी प्रकार के उत्तर दायित्व

का भी पता नहीं है। ये मनुष्य का जितना अपकार करते हैं, उस पर विचार करने से हृदय में शोक से निराशा छा जाती है। क्योंकि ये इस बात को जानते ही नहीं, कि जो व्यक्ति इस प्रकार संगति आदि द्वारा मोहित हो कर उनके एक थोड़े से इशारे पर एकाएक भगवद्-भक्ति में उन्मत्त हो जाते हैं; वे अपने को जड़, विकृतभावापन्न व शक्ति शून्य कर देते हैं। जिससे क्रमशः उनका मन इस तरह का हो जाता है, कि इसी प्रकार यदि कोई उन्हें प्रभावित कर खोटे से खोटे कुकर्म की ओर प्रेरित करे, तो वे शीघ्र ही उसके प्रभाव में आकर उसके आधीन हो जायेंगे; उससे बचने की उनमें कुछ भी शक्ति नहीं रहती इन अप्रतारित (आत्मविस्मृत) व्यक्तियों के मनमें स्वप्न में भी यह बात उठने नहीं पाती, कि वे जब कभी

"मनुष्य हृदय परिवर्त्तन करने की क्षमता है"

इस प्रकार समझ कर आनन्द मग्न हो जाते हैं; (इस क्षमता को वे समझते हैं सातवें आसमान पर विराजमान कोई महापुरुष उन्हें प्रदान करते हैं) उस समय वे भविष्य के लिए अपनी मानसिक अवनति, पाप, उन्मत्तता व मृत्यु का बीज बोते हैं। इसलिए जिससे तुम्हारी स्वाधीनता नष्ट हो, ऐसे सब तरह के प्रभावों से अपने को सावधान रखना चाहिए। इस तरह के अन्ध विश्वास को सब तरह से विपत्ती जनक जान कर सर्व प्रकार उनसे अपनी रक्षा करनी चाहिए।

ऊपर जिन विभिन्न मतों की आलोचना की गई है, यह यद्यपि इस प्रसंग पर आलोच्य विषय नहीं था, फिर भी प्रत्याहार के विकृत अंग होने के कारण, तथा इनसे जनता का यथेष्ट अनिष्ट होता हुआ देख सकने में असमर्थ होने के कारण इनकी आलोचना की गई है। अब हम क्रमशः अपने प्रकृत प्रस्ताव प्रत्याहार व धारणा के विषय में विचार करेंगे।

प्रत्याहार और उसका साधन;—जो साधक इच्छा के अनुसार अपने मन को इन्द्रियों में संलग्न करते वो इन केन्द्रों से हटाने में कृतकार्य हो जाते हैं; समझ लेना चाहिए, उनको प्रत्याहार की सिद्धि हो गई है। प्रत्याहार शब्द का शब्दार्थ भी यही है, कि इच्छा के अनुसार मन को एक तरफ जुड़ाना; अर्थात् उसको इच्छनुसार इन्द्रियों में संयुक्त करना और उनसे हटा सकने की सामर्थ्य प्राप्त करना;- या इसको और भी स्पष्ट करने के लिए इस प्रकार कहा जा सक्ता है, कि मन की वाहिर्गति को रोक कर, अथवा इन्द्रियों की आधीनता से मन को मुक्त करके भीतर की तरफ आचरण करना (लगाना)। इसमें सफल होने पर ही हम यथार्थ में चरित्रवान बन सक्ते हैं; और तब समझना चाहिए, कि हम मुक्ति के मार्ग पर बहुत कुछ अग्रसर हो गए हैं। जब तक हम अपने को ऐसा न बना सकें; तबतक हमें अपने को जड़ यन्त्र से अधिक शक्तिशाली न समझना चाहिए।

मन का संयम करना बहुत ही कठिन काम है; इसीलिए शास्त्रों में जो इसको उन्मत्त वानर की उपमा दी गई है, यह कुछ असंगत नहीं प्रतीत होती। नीचे दिये हुए "वानर" के उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। जैसे किसी जगह एक वानर रहता था, उसमें अपने मर्कट-स्वभाव-सुलभ चञ्चलता तो थी ही एक दिन एक मनुष्य ने उसको पकड़ कर (उसकी इतनी ही चञ्चलता से मानो सन्तुष्ट न होकर) उसको बहुत सी शराब पिला कर छोड़ दिया। उसके शराब पिलाते ही बेचारे (वानर) को एक जहरीले बिच्छू ने काट लिया, यदि किसी शान्त मनुष्य को भी बिच्छू काटले तो वह सारे दिन अस्थिर होकर छटपटाता रहता है; तब उस स्वभावतः चञ्चल और शराब के नसे से और भी चञ्चल हुए वानर की क्या दशा हुई होगी, आप स्वयं समझ सक्ते हैं। इतने पर भी उसेका दुर्भाग्य सन्तुष्ट न हुआ, और उसके बाद ही एक भूत (प्रेत) उस पर चिपट गया। अब बताइये उस वानर की उस समय की चञ्चलता का क्या वर्णन कीया जासक्ता है? बस मनुष्य का मन भी इसी बन्दर के समान समझना चाहिए क्योंकि मनुष्य का मन तो स्वभावतः चञ्चल होता ही है, फिर इस पर भी वासना रूपी मदिरा में मत्त रहता है; जिससे

उसकी अस्थिरता और भी अधिक बढ़जाती है। जब विभिन्न वासनायें आकर मन पर अपना प्रभाव जमा देती हैं, तब अपने से सुखी लोगों को देखने से (पर समृद्धि असहन शीलता आ जाने के कारण) ईर्षा रूप बृश्चिक उसे डंक मार देता है। इसके बाद अहङ्कार रूपी पिशाच उसके शरीर में प्रवेश कर जाता है; तब वह अपने को ही संसार भर में सबसे बड़ा समझने लगता है; और इस व्यर्थ की मान बड़ाई को बनाये रखने के लिए उसको बाध्य होकर जैसे नाना प्रकार के घृणित कुकर्म करते हुए अधिक कष्ट भोगने पड़ते हैं। हमारे मन की यही अवस्था है। इस लिए अब आप अच्छी तरह से समझ गये होंगे, कि मनका संयम करना कितना कठिन काम है।

मन संयम करने की पहली सीढ़ी यह है कि कुछ थोड़े समय तक चुपचाप (सुनसान) होकर बैठ जाओ, और मन को अपनी इच्छानुसार चलते रहने दो। क्योंकि मन तो स्वभावतः चञ्चल है; इस लिए वह निरन्तर अपने संकल्प-विकल्प द्वारा नाना विध विषयों का आश्रय लेकर एक से दूसरे में विचरण करता रहता है। इसलिए इस समय (जब चुपचाप बैठे हो) यह मन-बानर जितना भी कूदा फांदी करे, करनेदो, इससे कुछ क्षति नहीं; परन्तु धीरता पूर्वक प्रतीक्षा करो (टिके रहो) और मन की इन गतियों की ओर अपना लक्ष्य

बनाये रहो। जो यह कहा जाता है कि मनुष्य में ज्ञान ही यथार्थ शक्ति है, यह बिल्कुल सच है। जब तक इस तरह लक्ष्य रखकर मन की क्रियाओं को जान न पावोगे; तबतक तुम उसे नियन्त्रित नहीं कर सकोगे। इसके लिए अपना लक्ष्य बनाये रखकर मनको यथेच्छा घूमने देना चाहिए। इससे सम्भवतः बहुत भयानक से भयानक डरावनी चिन्तायें तक तुम्हारे मन में आ सकती है। यहांतक कि आपके मनमें इतनी बुरी २ भावनायें उठ सकती हैं, कि जिनका विचार कर आपको आश्चर्य हो जायेगा। परन्तु देखोगे, मन की यह सब क्रीड़ायें प्रतिदिन ही कुछ न कुछ कम होती जा रही हैं; प्रति दिन ही मन कुछ न कुछ स्थिर होता जा रहा है। पहिले कुछ महीनों तक देखोगे, तुम्हारे मन में हजारों चिन्तायें उठेंगी फिर क्रमशः वह कम होकर सैकडों चिन्ताओं में परिणत हो जायेगी। और कुछ महीनों के बाद वह और भी कम होकर अन्त में यह मन बिल्कुल तुमारी इच्छाधीन हो जायेगा। किन्तु साधक को धैर्य अवलम्बन कर प्रति दिन नियमित रहकर अभ्यास करते रहना चाहिए। उदाहरण के लिए जैसे जबतक वाष्पीय यन्त्र (इञ्जन) के भीतर वाष्प (भाफ) रहेगी, तबतक वह चलता ही रहेगा; इसी तरह जब तक विषय हमारे सामने रहेंगे, तब तक हमें उन विषयों को देखना ही होगा। इसलिए यदि हम दूसरे व्यक्ति को दिखाना चाहे, कि हम केवल दूसरे के इशारे पर चलने वाले यन्त्र नहीं है, तो हमें दिखा देना

चाहिए, कि हम किसी के भी आधीन नहीं हैं। इस तरह से मन को सयम करना व उसको भिन्न २ इन्द्रिय गोलकों में संयुक्त न होने देने को ही "प्रत्याहार" कहते हैं। तब प्रश्न उठता है। कि इसका अभ्यास करने का उपाय क्या है। उत्तर में कहा जा सक्ता है, कि यह एक दिन में ही सिद्ध होने वाली बात नहीं है; इसको सिद्ध करने के लिए बहुत दिन तक नियमित अभ्यास करना पड़ता है। धैर्यपूर्वक सहिष्णुता के साथ क्रमशः कई बार तक अभ्यास करते रहने से इसमें सफलता प्राप्त हो सक्ती है।

धारणा व उसकी साधन विधिः—प्रत्याहार सिद्ध होने पर फिर धारण के अभ्यास में कृतार्थ हो सकते हैं। कुछ समय तक ऊपर बताये अनुसार प्रत्याहार साधन करने के अनन्तर, धारणा (साधन) का अभ्यास करने की चेष्टा करना चाहिए। इसीलिए अब प्रत्याहार के अनन्तर धारणा के विषय में वर्णन करते हैं। धारणा शब्द का अर्थ मन को शरीर के अभ्यन्तर-वर्ती या वहिर्देशस्थ किसी एक स्थान में धारण या स्थापन करने को कहते हैं। मनको इस प्रकार भिन्न २ स्थानों में स्थापन करना चाहिए, इसका अर्थ क्या है। इसका अर्थ यह है, कि मन को और सब स्थानों में से जुदा करके किसी एक विशेष भाग में बल पूर्वक धारण करके रखना होता है। उदाहरण के लिए, मानलो, कि हमने

मनको और सब शरीर के भागों से हटाकर केवल हाथ के ऊपर धारण किया, इससे क्या होगा, कि शरीर के अन्यान्य अवयव उस समय चिन्ता के अविपर्यभूत (निश्चल) हो जायेंगे इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि जब चित्त अर्थात् मनोवृत्ति किसी निर्दिष्ट स्थान पर आकर टिक जाती है, तब उसको ही धारणा कहते हैं। यह धारणा विविध प्रकार की होती है। इस धारणा का अभ्यास करने के समय कुछ २ कल्पना शक्ति की सहायता लेना अच्छा होता है। उदाहरण के लिए, मानलो हृदय में स्थित एक विन्दु के ऊपर हमें मन की धारणा करनी है। इसको कार्य में परिणत करना बहुत कठिन समस्या है। इसलिए इसका सरल उपाय यह है, कि हृदय में एक पद्म की कल्पना करो, और उस पद्म में मन को धारण करो। अथवा मस्तिष्क के भीतर स्थित "सहस्त्र दल" कमल य पूर्वोक्त सुषुम्ना के मध्य में स्थित "चक्रों" में से किसी एक को ज्योति से पूर्ण इस रूप से कल्पना करने से मन उसमें सहज में ही टिक सक्ता है।

साधक को ऊपर लिखे अनुसार प्रतिदिन नियम पूर्वक इसकी साधना करनी चाहिए। इसके लिए निर्जन (एकान्त) स्थान उसके लिए सदा प्रयोजनीय होता है। क्योंकि जनाकीर्ण स्थान में रहने से विभिन्न प्रकृति के लोगों के साथ उसका व्यवहार रहने से उसका मन विक्षिप्त (चंचल)

हो जा सक्ता है । उसको अधिक बातें भी न करनी चाहिये । इस तरह अधिक बातें या काम करने से उसका मन चंचल हो जाता है । देखा गया है, कि सारे दिन कठिन परिश्रम करते रहने के अनन्तर मन-संयम नहीं किया सक्ता । जो इन ऊपर बताये हुए नियमों को दृढ़ संकल्प के साथ पालन कर सकें, वह साधक ही योगी हो सक्ता है । सदाचार की ऐसी अद्भुत शक्ति है, कि बहुत थोड़ा सा सत्कर्म करने से भी उसका बहुत महान् फल होता है । इससे किसी को भी कुछ अनिष्ट नहीं होता; बल्कि इससे सबका उपकार ही होता है ।

इस प्रकार धारणा के साधन का सबसे पहिला फल विविध प्रकार की स्नायवीय उत्तेजना शान्त होगी, मन में शान्त भाव विराजमान होने लगेगा और सब बातें अच्छी तरह देख सकने व समझ सकने की क्षमता आ जायेगी । प्रकृति (स्वभाव) में मधुरता आ जायेगी, और स्वास्थ्य भी क्रमशः अच्छा हो जायेगा साधक को इस प्रकार योगाभ्यास करने के समय फल स्वरूप जो चिन्ह प्रकट होते हैं; उनमें से शरीर का स्वास्थ्य सुधारना ही सबसे पहिला चिन्ह हुआ करता है । स्वर भी सुन्दर (मधुर) हो जाता है । पहिले स्वर में जो कुछ भी विकलता रही हो, वह सब चली जाती है । इसके अतिरिक्त उस समय और २ भी बहुत से अद्भुत चिन्ह प्रकट होते हैं, पर उनमें से सबसे

पहिले ये ऊपर बताये हुए चिन्ह ही प्रकट होते हैं। जो साधक बहुत अधिक सवेग्र रहकर अधिकाधिक साधना करते हैं, उन में और भी अधिक लक्षण प्रकट होते हैं। उसको कभी २ बहुत दूर से घण्टा बजने का जैसा शब्द सुनाई पड़ेगा; मानो उससे किसी दूर स्थान में बहुत से घण्टे बजते हैं, और वह सब शब्द एकत्रित होकर उसके कानों में क्रमशः एक तरह का शब्द सुनाई दे रहा हो। समय २ पर और २ भी इस तरह के बहुत से अलौकिक दृश्य (Vision) दिखाई देंगे। छोटी २ आलोक-कणायें (आगके शोले) आकाश में उड़ती हैं वह क्रमशः एक २ करके बढ़ रही हैं, देख पाओगे। जब ये सब लक्षण प्रकट होने लगें, तब समझना चाहिए, कि आपको अपनी साधना में खूब अधिक सफलता प्राप्त हो रही है। जो साधक योगी होने की इच्छा करें, और इसके लिए खूब अधिक अभ्यास करते हैं उनको साधन की प्रथम अवस्था में भोजन के विषय में अधिक ध्यान रखना चाहिए। जो साधक खूब अधिक उन्नति करना चाहे, उनको इसके लिए पहिले कुछ महीने तक केवल दूध या कुछ फल फूल सेवन कर जीवन-धारण कर सकते हैं। इससे उनको साधना में बहुत सहायता मिलेगी। परन्तु जो ऐसेही साधारण उपाय से कुछ थोड़ा बहुत कामचलाऊ अभ्यास करना चाहे, वे साधारणतः जो कुछ आहार करते हों, उसको भर पेट न खावें अर्थात् हल्का आहार करें, तो इससे ही उनका काम चल सका है। भोजन

का विशेष नियम रखने की उनको कोई आवश्यकता नहीं होती; उन्हें जो कुछ इच्छा हो सब कुछ खा सकते हैं।

जो साधक अधिकाधिक साधना करके शीघ्र ही उन्नत होने की इच्छा करें, उनके लिए आहार के विषय में विशेष सावधान होना आवश्यक होता है। क्योंकि यह शरीर यन्त्र उत्तरोत्तर जितना ही अधिक सूक्ष्म दशा में प्राप्त होता जायेगा आप देखेंगे, उतना ही एक अति सामान्य आहार्य वस्तू को अनियमित सेवन करने से वह आपके सारे शरीर में बुरी हल चल मचा देगा। जबतक शरीर के ऊपर बिल्कुल अपना अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक एक रत्त भर भी इस प्रकार भोजन की न्यूनाधिकता से आपका सारा शरीर एक दम उसके प्रभाव से अप्रकृतिस्थ (अस्वस्थ हो जायेगा। मन के बिल्कुल अपने वश में आजाने पर फिर जो इच्छा हो भोजन कर सकते हो। आप देखेंगे, कि जब आपने मन को एकाग्र करना आरम्भ किया हो, उस समय एक छोटी सी कंकर गिरने पर भी आपको ऐसा मालूम होगा, मानो आपके मस्तिक पर वज्र गिर पड़ा है। क्योंकि उस समय सारी इन्द्रियां सूक्ष्म-अनुभव-शक्ति-युक्त हुई रहती हैं; इसलिए उस समय यह ही नहीं बल्कि इससे भी बहुत से सूक्ष्म अनुभूतियां होने लगेंगी इन सब अवस्थाओं के भीतर से ही हमें क्रमशः अग्रसर होना पड़ेगा। जो साधक विशेष अध्यवसाय के साथ अन्त तक

दृढ़ होकर साधना में लगे रहते हैं, वह ही इस साधना में सफलता प्राप्त कर सक्ते हैं। साधक को सब प्रकार के तर्क या जिससे मन में चंचलता आवे, ऐसी सब बातें बिल्कुल छोड़ देनी चाहिये। क्योंकि निष्फल व कूट तर्क पूर्ण बातें मारने से क्या फल मिलसक्ता ! बल्कि इसके विपरीत इस तरह के तर्क व बातों से मनका साम्यभाव (शान्ति) नष्ट होकर केवल मन चंचल जरूर हो जाता है। जो सबतत्त्व विशेष साधना व संयम द्वारा उपलब्ध किये जा सक्ते हैं; उनके विषय में तर्क या बाते मारने से क्या वे प्राप्त हो सकेंगे ! जब नहीं हो सक्ते, तो इसलिए सब प्रकार के कुतर्क व कुटिल बातों का छोड़ देना ही ठीक है। इस विषय को जिन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव कर के अनन्तर लिखा है, केवल उनके लिखे हुए ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए।

इसके लिए साधक को सीप (सीपी) का अनुकरण करना चाहिए। इसको स्पष्ट समझाने के लिये भारतवर्ष में प्रचलित एक प्रवाद लिखते हैं; वह इस प्रकार से है………जब आकाश में स्वाति नक्षत्र तुला राशि पर होता है, उस समय यदि वर्षा हो, और इस वर्षात के जल की एक बूंद सीपके भीतर पड़ जाय, तो वह मोती के रूप में परणित हो जाता है। शुक्तियों (सीपों) को यह बात मालूम रहती है। इसलिए जब स्वाति नक्षत्र तूला राशि में आ जाता है, उस समय ये जल के ऊपर आकर ऊपर बताये हुए एक बूंद मूल्यवान् इस

जल की बूंद के लिए अपेक्षा करती रहती है। जब एक बूंद इस प्रकार की वृष्टि का उनके ऊपर पड़ता है, तब वे उसको उसी समय इस जल की बूंद अपने भीतर ग्रहण कर एकदम पानी के भीतर समुद्र के तले में चली जाती हैं। वहीं जाकर अधिकाधिक सहिष्णुता के साथ, उससे मोती बनाने के लिए प्रयत्न करती है। हमें भी इन शुक्तियों के समान ही होना चाहिए।

पहिले किसी बात को सुनना चाहिए फिर उसको समझना चाहिए; फिर बहिर्जगत् की तरफ दृष्टि को बिल्कुल ही छोड़ कर, सब प्रकार के विक्षेप (विघ्न) के कारणों से दूर रहकर, अपने भीतर स्थित सत्य तत्व को विकाशित करने (जगाने) के लिए बलवान होना चाहिए। किसी एक नये विचार को ग्रहण कर उसकी नवीनता चली जाने पर, फिर किसी दूसरे नये विचार का आश्रय करना; और इस तरह क्रमशः बारंबार करते रहने से हमारी सारी शक्ति इस तरह से व्यर्थ ही विविध ओर जाकर परिश्रान्त होकर थक जाती है। साधन करने के समय साधक में इस प्रकार की नूतन-प्रियता-रूपक विपत्ति अधिकांश आजाया करती है। इसलिए दृढ़ता पूर्वक विचार और संयम के साथ एक विचार को ग्रहण करो और उसके अन्ततक पहुंचने तक उसको ही लेकर रहो। उस का अन्तर्रहस्य जाने बिना उसको कभी भी न छोड़ना चाहिए, इस तरह से जो एक विचार को लेकर उसका आमूल

अन्तर्रहस्य जानने में मस्त हो जाते हैं, उनके ही हृदय में सत्य-तत्व का प्रकाश चमक उठता है। जो साधक इधर से एक, और उधर से कोई एक विचारो की संग्रह कर चटोरे के चाट का स्वाद लेने के समान सब बातों को थोड़ा २ देखने में लग जाता है, वह कभीभी किसी एक विचार में सिद्धि प्राप्त कर उसमें सफल नहीं हो सक्ता। बल्कि कुछ क्षण के लिए उनके स्नायुओं के थोड़ा सा उत्तेजित होने से, उसको उससे कुछ आनन्द जरूर ही प्राप्त हो सक्ता है। किन्तु उससे और कोई विशेष स्थाई फल कुछ नहीं होता। इस तरह के साधक चिरकाल के लिए प्रकृति के दास बने रहते हैं। कभी भी अतीन्द्रिय राज्य में विचरण करने में समर्थ नहीं हो सक्ते।

जो यथार्थ में ही योगी होने की इच्छा करें, उनको ऊपर बताये अनुसार संसार में स्वभावतः वर्त्तमान एक २ विचारों में थोड़ा २ करके ठुकराने का भाव बिल्कुल ही छोड़ देन चाहिये। बल्कि एकही भाव को लेकर उसी भाव धारा में समाजाना उनके लिये श्रेयस्कर होता है। इसलिए जिस किसी विचार को साधना के लिए ग्रहण करो दिन रात सोते, बैठते उसी को लेकर रहो। अपना मस्तिष्क, स्नायू अथवा सारे शरीर को ही उस विचार से सर्वदा परिपूर्ण रखना चाहिए। और सब तरह के विचार बिल्कुल छोड़ देने चाहिये। यही सिद्धि प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है; और इसी एक उपाय से ही बहुतों ने इस अलभ्य साधना में सिद्धि प्राप्त कर महान योगि

राज पद को प्राप्त हुए हैं। बाकी के और सब वाक्य-व्यय करने के यन्त्र-स्वरूप जड़वत् बने हुए हैं। यदि हम इस प्रकार किसी परम तत्व को उपलब्ध कर स्वयं कृतार्थ होने व दूसरे का उद्धार करने की इच्छा करें, तो हमें केवल व्यर्थ की गपोड़ा बाजी छोड़कर उस परम तत्व के अन्तस्तल तक दृढ़ता पूर्वक पहूंचने का प्रयत्न करें। तब ही यह सब कुछ (अपना और दूसरे का भला) किया जा सक्ता है।

इसको कार्य में परिणित करने के लिए, पहिला सोपान (सीढ़ी) यह है, कि मनको किसी तरह भी विभिन्न विचारों में पड़कर चंचल न होने देना चाहिए; और जिनके साथ बाते चीत करने से मनमें किसी प्रकार की चंचलता आने की सम्भावना हो, उनका साथ बिल्कुल न करना चाहिए। आप सब जानते हैं, कि अधिकांश को ही किसी विशेष स्थान, विशेष स्वभाव के व्यक्ति व किसी विशेषर खाद्य (भोजन द्रव्य) से घृणा हुआ करती है। इसलिए साधक को जिस किसी विशेष स्थान, बात, स्वभाव व वस्तु से स्वभावतः घृणा हो, वह छोड़ देना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो इसमें सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करना चाहे, उनको तो सत् असत्य (भला, बुरा) सब तरह का साथ ही छोड़ देना चाहिए। इसीलिए प्रत्यक्ष दर्शि योगी गण लिख गये हैं—

संगः सर्वात्मना त्याज्यः सचेत्त्यक्तुं न शक्यते।

स मद्भिः सह कर्तव्य मात्र तस्यापि भेषजम् ॥

अर्थात—पहिले तो साधक को सत्-असत् सब तरह का संग छोड़ देना चाहिए; परन्तु यदि किसी तरह से बिल्कुल ही इस तरह का संग न छोड़ सका हो, तो सदैव केवल सदाचार सम्पन्न सद्विचार निरत सज्जनों का ही साथ करना चाहिये।

खूब दृढता पूर्वक साधन करना आरम्भ करदो; यहां तक कि इसमें यदि मर-खप भी जावो, तो उसकी कुछ भी पर्वा न करो। बस अपने मनमें इस बात की दृढ़ गांठ बांध दो, कि यातो "कार्यं साधयेयं" (आरम्भ किये काम में सफलता प्राप्त करके रहूंगा) अथवा "शरीरं पातयेयं" इसको अन्त तक साधने में शरीर को ही नष्ट कर दूंगा)। इसलिए फलाफल की ओर कुछ भी लक्ष्य न रख कर अपनी साधना के समुद्र में साधक को बिल्कुल और सब तरफ से उपराम होकर डूब जाना चाहिए। ऐसा होने पर ही यदी आप खूब साहस युक्त होवोगे, तो छै महीने के भीतर ही एक महान सिद्धि सम्पन्न योगीराज हो जावोगे। परन्तु जो साधक थोड़ा २ करके साधन करते रहते हैं, सब बातों को ही थोड़ा २ करके देखते रहते हैं, वे विशेष कुछ उन्नति नहीं कर सकते।

केवल उपदेश सुनने मात्र से कुछ भी लाभ नहीं होता। जो तमोगुण से पूर्ण होकर अज्ञानी और आलसी बने रहते हैं; जिनका मन किसी एक बात पर स्थिर होकर नहीं रहता; जो केवल थोड़ा बहुत मनो विनोद के लिए किसी विचार को ग्रहण करते हैं; उनके लिए ये अलभ्य-शक्ति प्राप्त करने के साधन धर्म व दर्शन शास्त्र केवल क्षणिक आमोद प्रमोद मात्र के लिए ही होते हैं। ये जो कुछ धार्मिक कृत्य करते हैं वह केवल मनो विनोद के लिए; न कि धार्मिक सिद्धि द्वारा आत्मोद्धार करने के लिए; और यह क्षणिक आमोद उनको प्राप्त भी हो जाता है। इस प्रकृति के पुरुष किसी परम सत्य को साधन कर जीवन को कृतार्थ करने में अध्यवसाय ही होते हैं। ये लोग धार्मिक कथाओं को सुन कर वक्ता के हाव भाव व विचारों की क्षणिक उत्तेजना से उत्तेजित होकर, उस समय उसकी विशेष प्रशंसा कर देते हैं; पर वहां से उठकर घर पर आते ही वह सब कुछ भूल जाते हैं। परन्तु जिनको सिद्धि प्राप्त करने की अभिलाषा हो, उन्हें प्रगाढ़ अध्यवसाय व मनके असीम बल की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के दृढ़अध्यवसाय सम्पन्न साधकों की यह दृढ़ धारणा होनी चाहिए, कि मैं "एक चुल्लू में समुद्र को सुखा दूंगा।" । "मेरी इच्छा होते ही बड़े से बड़े पर्वत चूर २ होजायेंगे" । इस प्रकार का तेज और

इस प्रकार का संकल्प अवलम्बन कर खूब दृढ़ता पूर्वक साधना करो; निश्चय ही आपको उस परम पद की प्राप्ति हो जायेगी।

सातवां अध्याय ।
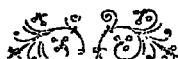
ध्यान व समाधि ।
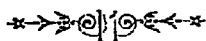
इससे पिहले के प्रकरणों में हम एक तरह से राज योग की अन्तरङ्ग साधनाओं के अतिरिक्त और सब अङ्गों के विषय में कह आये हैं। अव बाकी रहे हुए अन्तरङ्ग साधन के विषय का वर्णन किया जाता है। इस अन्तरङ्ग साधन से एकाग्रता लाभ करना है; और यह एकाग्रता-शक्ति लाभ करना ही राज-योगी का एक मात्र चरम लक्ष्य होता है। हमें जो कुछ भी ज्ञान है, जिन्हें हम विचार लब्ध ज्ञान कहते हैं; वह सबका सब ही हमारे अहं-पूर्वक स्वभाविक (प्रेरणा शक्ति जन्य) ज्ञान के ऊपर निर्भर करता है। हम इस टेबुल को जानते हैं, हम किसी एक व्यक्ति के अस्तित्व की बात जानते हैं, इस प्रकार अन्यान्य वस्तुओं का भी जानते हैं; तत् तत् स्वभाविक ज्ञान के कारण ही हम यह समझने में समर्थ होते हैं कि वह व्यक्ति उस स्थान पर है, टेबुल उस स्थान पर है; और

अन्यान्य जिन वस्तुओं को देखते हैं, अनुभव करते हैं या सुनते हैं, वे भी यहां पर टिकी हुई हैं। यह तो हुई एक ओर की बात। इसके अतिरिक्त दूसरी ओर यह भी देख पाते हैं, कि हमारे शरीर के भीतर ऐसी २ वस्तुयें हैं; जिनके विषय में हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। शरीर के भीतर वर्तमान सबके सब यन्त्र, मस्तिष्क के भिन्न २ अंश और मस्तिष्क इनके विषय में किसी को कुछ भी ज्ञान नहीं रहता।

मन की ज्ञान औ अज्ञान भूमिकाओं से होने वाले कार्य—

जब हम आहार करते हैं, उस समय उसको विशेष ज्ञान पूर्वक करते हैं परन्तु जब हम उसका सार भाग अपने भीतर ग्रहण करते हैं तब हम उसको अज्ञात दशा में करते हैं; और जब वह रक्त के रूप में परिणित होता है, तब भी वह हमारी अज्ञात दशा में होता है। इसके अतिरिक्त जब इस रक्त से शरीर के भिन्न २ भागों का गठन (निर्माण) होता है, उस समय भी वह हमारी अज्ञात दशा में ही होता है। परन्तु यह सब व्यपार हमारे द्वारा ही किया जाता है। क्योंकि इस शरीर के भीतर तो और कोई दश-बीस मनुष्य बैठे हुए नहीं है, जो इन सब कामों को करते हों। यहां

पर यह एक आपत्ति (प्रतिवाद) उठ सक्ती है, कि केवल भोजन करने के साथ ही हमारा सम्बन्ध खाद्य (भोजन द्रव्य) परिपक्व करना व उससे शरीर गठन करने का काम हमारे लिए कोई और व्यक्ति कर देता है। यह बात तो नहीं है; क्योंकि इसके विपरीत यह प्रमाणित किया जा सक्ता है, कि अब जो काम हमारी अज्ञात दशा में हो रहे हैं; ये सबके सब काम इच्छा करने पर हमारी ज्ञात दशा में भी हो सक्ते हैं। हमारे हृदय (heart) का काम एक तरह से बिल्कुल अपने आप चला करता है, उसमें मानो हमारा कुछ भी हाथ नहीं है परन्तु इस हृदय का काम भी अभ्यास द्वारा, अपनी इच्छा के आधीन किया जा सक्ता है, कि हमारी इच्छा के अनुसार वह जल्दी २ या धीरे २ चलने लगेगा। इसी तरह हम अपने शरीर के सम्पूर्ण अंगों की क्रियाओं को अपनी इच्छाधीन कर सक्ते हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ? इस से यह सिद्ध हुआ, कि इस समय जो काम हमारी अज्ञात दशा में हो रहे हैं, उन को भी हमी करते हैं; परन्तु अज्ञात दशा में करते हैं, बस केवल इतनी ही बात बीच में है। इस लिए इस विचार द्वारा देखा गया है कि मनुष्य का मन दो अवस्थाओं में काम कर सक्ता है। उसके कार्य करने की प्रथम अवस्था को ज्ञान भूमि कहा जा सक्ता है। इसका तात्पर्य यह है, कि जिन सब कामों के करने के समय केवल एक "मैं" का ज्ञान रहता है, वह सब काम "ज्ञान भूमि" से सिद्ध होते हैं, ऐसा कहा जा

सक्ता है। मन की कार्यशक्ति की दूसरी भूमि का नाम अज्ञान भूमि कहा जा सक्ता है। जो सब काम ज्ञान की निम्न भूमिका से सिद्ध होते हैं, जिसमें "मैं" यह ज्ञान नहीं रहता उसको **"अज्ञान भूमि"** कह सक्ते हैं।

इस ऊपर के विवेचन के अनुसार हमारे शरीर में होने वाले सारे कामों में से, जिनमें **"अहं मैं"** भाव मिश्रित रहता है, उनको ज्ञान पूर्वक क्रिया ,और जिनमें इस **"अहं"** भाव का सम्बन्ध नहीं है, उनको अज्ञान पूर्वक क्रिया कह सक्ते हैं। मनुष्यों से निम्न श्रेणी के प्राणियों में इन अज्ञान पूर्वक कार्यों को **"सहजात ज्ञान"** (Instinct) कहते हैं। उनकी अपेक्षा उच्चतर जीवों में व सब की अपेक्षा उच्चतम प्राणी मनुष्यों में यह दूसरे प्रकार के कार्य अर्थात् जिनमें "अहं" भाव रहता है, ये ही अधिक देखे जाते हैं; और इनको ही ज्ञान पूर्वक क्रिया कहते हैं।

मनकी ज्ञानातीत भूमिका के कार्य;—

परन्तु इन दोनों पर विचार करने से ही मन की सब भूमिकायें की गई, यह बात नहीं है। क्योंकि मन इन दोनों से भी उच्चतर भूमिकाओं में विचरण कर सक्ता है; बल्कि यहां तक कि अभ्यास क्रम से मन ज्ञान के भी अतीत अवस्था में

पहुंच सक्ता है। जैसे अज्ञान भूमिसे जो कार्य होता है, वह ज्ञान की निम्न भूमि का कार्य होता है; उसी तरह पर "ज्ञानातीत भूमि" से भी काम हो सक्ता है। उसमें भी अज्ञान भूमि के समान किसी प्रकार का "अहं" भाव का कार्य नहीं होता। यह अहं भाव का काम केवल मध्य अवस्था में हुआ करता है। जब मन इस "अहं" ज्ञान रूप रेखा के ऊपर वा नीचे विचरण करता है; उस समय उसमें किसी तरह का अहं ज्ञान नहीं रहता जब मन इस ज्ञान भूमि के अतीत (परे के) प्रदेश में पहुंच जाता है; उसी समय उसको "समाधि" "पूर्ण चैतन्य भूमि" वा "ज्ञानातीत भूमि" कहते हैं। यह समाधि ज्ञान से भी बहुत दूर परे अवस्थित दशा है। अब यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि हम किस तरह से जानें, कि मनुष्य समाधि अवस्था में ज्ञान-भूमि के निम्नस्तर में भी जासक्ता है या नहीं, अथवा बिल्कुल ही हीन दशा में पहुंच सक्ता है या नहीं, ? क्योंकि इन दोनों अवस्थाओं के काम ही ज्ञान शून्य होते हैं ? इसका उत्तर यह है, कि मन इस तरह समाधि अवस्था प्राप्त होने पर निम्न दशा में पहुंचा व उच्च दशा में पहुंचा, इसका निर्णय तो उसमें उस समय वर्त्तमान लक्षणों से ही हो सक्ता है। जब कोई गहरी नींद में सोया हुआ होता है, तब वह ज्ञान भूमि से बहुत निम्न प्रदेश में पहुंचा होता है। उस समय भी वह अज्ञात दशा में शरीर के समस्त कामों को अर्थात

नियमित श्वास-प्रश्वास लेना और यहां तक कि शरीर को इधर उधर हिलाना तक करता है। उसके इन कामों में किसी प्रकार के अहंभाव का संसर्ग नहीं रहता; वह उस समय अज्ञान से आच्छादित (घिरा) रहता है; फिर नींद से जब उठता है, तब वह पहिले जैसे मनुष्य था, उससे उसमें किसी प्रकार की भी विलक्षणता नहीं होती। उसके नींद में सोने से पहिले जो ज्ञान समष्टि थी, नींद टूटने के बाद भी ठीक उसी तरह पर रहती है; उसमें कुछ भी वृद्धि नहीं होती। उसके हृदय में किसी प्रकार के नये तत्व का आलोक प्रकाशित नहीं होता। परन्तु जब मनुष्य समाधि अवस्था में रहता है, तब समाधि में स्थित होने के पहिले वह यदि महा मूर्ख अज्ञानी रहा हो समाधि टूटने के अनन्तर वह महाज्ञानी हो जाता है।

अब विचार कर देखिये, इस विभिन्नता का कारण क्या है, एक अवस्था में, तो मनुष्य जैसे गया था, वैसे ही लौट आया और एक अवस्था में मनुष्यको ज्ञानालोक प्राप्त हुआ; एक अवस्था में जाने से महा साधु और सिद्ध पुरुष बन गया, उसका स्वभाव बिल्कुल सबका सब परिणित हो गया। यहां तो इन दोनों अज्ञान और ज्ञानातीत (समाधि) अवस्थाओं में भिन्न २ फल होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि फल भिन्न २ होने से उनका कारण भी अवश्य ही भिन्न २ होने चाहिये। यह ज्ञानालोक जो समाधि अवस्था में प्राप्त होता है वह अज्ञान अवस्था वा साधारण ज्ञानावस्था

से बिल्कुल पृथक व उन्नततर अवस्था है, इसलिए वह अवश्य ही ज्ञानातीत भूमि से प्राप्त होता है, ऐसा निसन्देह कहा जा सक्ता है। और यह ज्ञानतीत भूमि का नाम ही समाधि है।

यह ऊपर जो बताया गया है, समाधि कहने से साधारणतः यही समझा जाता है। अब प्रश्न हो सक्ता है, कि इस समाधि के साधन की आवश्यकता क्या है? हमारे जीवन में इस समाधि की आवश्यक्ता कहां है? इसके उत्तर में कहा जा सक्ता है, कि समाधि की विशेष आवश्यकता है। हम जानते हुए जिन सब कामों को करते हैं, जिनको "विचार की अधिकार-भूमि" कहा जा सक्ता है, वह बहुत ही संकीर्ण और सीमा बद्ध है। मनुष्यों की युक्तियां एक बहुत छोटे वृत्त (दायरे) के भीतर तक केवल चल सक्ती है। वह युक्ति राज्य के बाहर नहीं जा सक्ती। हम जितना ही इस युक्ति राज्य से बाहर निकलने की चेष्टा करते हैं, वह, उतनाही असम्भव प्रतीत होता है। इतना होने परभी मनुष्य जिस वस्तु को अत्यधिक मूल्यवान् समझकर आदर करता है, वह इस युक्ति राज्य के बाहर ही अवस्थित रहता है। अविनाशी आत्मा है या नहीं, ईश्वर है या नहीं इस सारी सृष्टि के नियन्ता परम ज्ञान स्वरूप कोई है या नहीं) इन सब तत्वों को निर्णय करने में केवल युक्ति असमर्थ और पंगु हो जाती है युक्ति इन सब प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ होती है। तब युक्ति क्या कहती? युक्ति का कहना है, 'मैं अज्ञ ; वादी हूं. मैं

किसी बातके लिए हां भी नहीं कह सकी, और ना भी नहीं कह सकी"। परन्तु इन प्रश्नों की मीमांसा (निर्णय) करना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यकीय होता है। इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर प्राप्त न कर सकने पर, मनुष्य का जीवन असम्भव वा निरर्थक हो जाता है। इस युक्तिरूप वृत्त (चक्कर) के बाहर से ही हमारा सम्पूर्ण नैतिक मत, सारे के सारे नैतिक भाव, यहां तक कि मनुष्य स्वभाव में जो कुछ महत्व की सुन्दर बात है, सबका सब वहां से ही प्राप्त हुआ है। इसलिए इन प्रश्नों की सुस्पष्ट मीमांसा न होने से मनुष्य का जीवन धारण करना ही असम्भव हो जाय। यदि मनुष्य जीवन सामान्य पांच मिनट का होता, और यदि संसार कुछेक परमाणुओं का आकस्मिक सम्मिलनमात्र होता, तो हम दूसरे का उपकार क्यों करें? दया, न्याय परायणता और परस्पर सहानुभूति के संसार में रहने की ही आवश्यक्ता क्या है? यदि ऐसा ही होता तबतो हमारा यह ही एकमात्र कर्तव्य हो जाता, कि जो जिसकी इच्छा में आता, वह वही करता, अपने सुख के लिए सबके सब व्यस्त हुए रहते। यदि हमें भविष्य में भी अपने अस्तित्व की आशा ही न हो, तो हम अपने भाई का गला न काट कर उसे प्रेम क्यों करें? यदि सारे संसार की अतीत (ज्ञानातीत) सत्ता कुछ भी न हो, यदि हमें मुक्ति की आशा ही न हो, यदि कुछेक कठोर, अभेद्य व जड़ नियम ही सर्वस्व

हों, तो जिससे हम इस लोक में सुखी हो सकें, वह ही हमारा एक मात्र कर्तव्य हो जाय ।

हितवादि व विज्ञान-वादियों के प्रश्न-और उनका उत्तर—

आजकल बहुतों के मत में, सम्पूर्ण नीति की भित्ति यह है, कि नीति पूर्वक वर्त्तने से बहुतों का उपकार होगा, वे अपने मतकी इसप्रकार से व्याख्या करते हैं कि जिससे अधिकांश लोगों का अधिक परिमाण में सुख स्वच्छन्दता हो सक्ती हैं; बस यही नीति की एकमात्र भित्ति या आवश्यक्ता है। हम ऐसे लोगों से पूछ सक्ते हैं कि इस प्रकार की थोथी दलील द्वारा हम नीति की भित्तिपर खड़े होकर नीति-पालन करें, इसका सबल प्रमाण आपके पास क्या है? यदि आपके पास इसका कोई प्रबल हेतु न हो और यदि हमारी ही बात ठीक ठहरे तब हम अधिकांश लोगों का, अधिकांश अनिष्ट ही क्यों न करें हित वादी-गण (Utilitarians) हमारे इस प्रश्न की मीमांसा किस प्रकार से करेंगे? इन दोनों में से कौनसी बात अच्छी है, और कौनसी बुरी, इसका निर्णय आप कैसे करेंगे, क्योंकि एक व्यक्ति अपनी सुख-वासना से परि-चालित हो कर वह अपनी इस वासना को भले बुरे किसी भी

उपाय से तृप्त करता है, यह उसका स्वाभाविक गुण है, बस केवल मात्र वह इतना ही जानता है इससे अधिक और न कुछ जानता और न जानने की इच्छा रखता है। उसके इस तरह पर वर्त्तने का वह इस तर्क द्वारा समाधान करता है, कि मेरी यह वासना थी, मैंने उसको प्राप्त कर अपनी तृप्ति की, तुम्हें इसमें आपत्ति करने का क्या अधिकार है ? यहां पर अब प्रश्न उठ सक्ता है, कि मनुष्य जीवन के ये सब महान्-सत्य, जैसे-नीति, आत्मा का अमरत्व, ईश्वर, प्रेम व सहानुभूति, सज्जनता व इन सबसे महान् सत्य निःस्वार्थ परता, ये सब भाव हमारे में कहां से आये हैं ?

सम्पूर्ण नीति-शास्त्र, मनुष्य का समस्त कार्य मनुष्य की समग्र चित्तवृत्ति, यह सबके सब मनुष्य में स्वभातः वर्तमान है निः स्वार्थ परता रूप एक मात्र भाव (भित्ति) के ऊपर स्थापित है। मनुष्य जीवन के सम्पूर्ण भाव इस निःस्वार्थ परता रूप एक बात के भीतर शामिल किये जा सक्ते हैं अब प्रश्न उठ सक्ते हैं, कि मैं स्वार्थ-शून्य क्यों होऊँ ? निः स्वार्थ पर होने की आवश्यकता ही क्या है ? और किस शक्ति के बल से हम निः स्वार्थ हों ? आप कह सक्ते हैं, कि "मैं मुक्ति वादी हूं" "मैं हित वादी हूं" परन्तु यदि आप हमें इस विषय में मुक्ति न दिखा सको, तो हम आपको अयौक्तिक (युक्ति शून्य) कहेंगे। हम निः स्वार्थ पर होवें, इसका कारण दिखाइये, हम बुद्धिहीन

पशुओं के समान आचरण ही क्यों न करें ? यह बात अवश्य है कवित्व के हिसाब से निः स्वार्थपरता अति-सुन्दर हो सक्ती है; परन्तु कवित्व ही तो मुक्ति नही है, हमें इसके लिए युक्ति दिखाओ। हम निः स्वार्थ पर क्यों होवें-क्यों हम साधु (सच्चरित्र) होवें ? शास्त्र में ऐसा लिखा हुआ है, या अमुक ने ऐसा कहा है, इसलिए ऐसा करो; इस प्रकार कहकर किसी विषय में हमें नहीं ले जा सकोगे। हम जो निः स्वार्थ पर होवे, इससे हमारा उपकार कैसे हो सक्ता है ? क्योंकि हम देखते हैं, कि स्वार्थ-परायण होने से संसार में सारे प्रयोजन सिद्ध हो सक्ते हैं; यहां पर प्रयोजन का अर्थ अधिक परिमाण में सुख प्राप्त करना है। हम दूसरे को ठग कर या दूसरे का सर्वस्वहरण कर सबसे अधिक सुख प्राप्त कर सक्ते हैं। "हित वादि गण" इसका क्या उत्तर देंगे ? वे तो इसका कुछ भी उत्तर न दे सकेंगे। परन्तु इसका यथार्थ उत्तर यह है; कि यह सम्पूर्ण परिदृश्यमान संसार एक अनन्त समुद्र का एक छोटा सा बुलबुला जैसा है; एक अनन्त शृंखला का एक छोटा सा अंश मात्र है। जिन्होंने संसार में निः स्वार्थ भाव का प्रचार किया था, व निः स्वार्थ परायण होने की शिक्षा दी थी, उन्होंने इस तत्व का कहां से पाया ? जब कि यह बात हम अच्छी तरह से जानते हैं, कि यह मनुष्यों का स्वाभाविक ज्ञान नही है। पशुगण जिनमें यह स्वाभाविक ज्ञान वर्त्तमान है, वे तो इस (निः स्वार्थ भाव) को जानते ही नहीं; मनुष्यों

की विचार बुद्धि और युक्ति तर्क में भी यह नहीं मिलता, और न उनसे इस तत्व के विषय में कुछ जाना ही जा सका है। तब प्रश्न उठता है, कि उन्होंने इस तत्व को कहां से पाया।

इतिहास को पढ़ने से प्रतीत होता है, कि संसार में उत्पन्न हुए सबके सब धर्म शिक्षक व धर्म प्रचारक ही; कह गये हैं, कि हमने इन सब सत्य-तत्वों को संसार के अतीत (परे के) स्थान से प्राप्त किया है। उनमें से बहुत से ऐसे भी हो सके हैं, जिसको यह मालूम नहो सका हो, कि यह सत्य तत्व उन्हें कहां से प्राप्त हुए हैं। यह भी हो सका है, कि उनमें से कोई २ यह कह गये हैं कि, एक स्वर्गीय दूत पंख युक्त मनुष्य के आकार में मेरे पास आकर यह सब कुछ कह गया है "कि" हे मनुष्य सुन, मैं स्वर्ग से सुसमाचार को लाया हूं, इसको ग्रहण करो,"। और एक धर्म प्रचारक कह गये हैं कि "तेज पुंज-परिपूर्ण शरीर एक देवता ने मेरे सामने प्रगट होकर मुझे इन तत्वों का उपदेश दिया है"। और एक दूसरे धर्म-प्रवर्त्तक कह गये, कि "मैंने स्वप्न में अपने पितरों (मृत पूर्व पुरुषाओं) को देखा, उन्होंने मुझे यह सब उपदेश दिया है।" इसके अतिरिक्त वे इस विषय में और कुछ भी नहीं कह सके। किन्तु सबने ही एक स्वर से स्वर्गीय दूत का दर्शन, ईश्वरीय वाणी का सुनना, अथवा और किसी आश्चर्य अलौकिक दर्शन की बात कही है। जिससे यह सिद्ध होता है, कि उन्होंने युक्ति तर्क के द्वारा इस ज्ञान को प्राप्त नहीं किया है। हमने

जगत्-के अतीत, अतीन्द्रिय प्रदेश से ये सब सत्य-तत्व प्राप्त किये हैं। यह तो जो कुछ हुआ सो सही, पर अब प्रश्न यह उठता है, कि इस विषय में योग-शास्त्र का मत क्या है? इसका उत्तर यह है, कि वे (धर्म प्रचारक) ठीक ही कह गये हैं, कि यह ज्ञान उन्होंने संसार के अतीत-प्रदेश से पाया है। परन्तु इस अतीत प्रदेश का ज्ञान केवल उनमें ही था। इस विषय में योगियों का कहना है कि इस मन की ही ऐसी एक विशेष अवस्था है; जिस अवस्था में वह विचार और युक्ति के साम्राज्य से परे चला जाता है, उस समय वह मन 'ज्ञानातीत अवस्था को प्राप्त करता है, और तब ही उस साधक को सम्पूर्ण विषय ज्ञान से अतीत "परमार्थ-ज्ञान" लाभ होता है। इस प्रकार का परमार्थ-ज्ञान, विचार की सीमा से परे का ज्ञान जिस ज्ञान के समाधान में तर्क और युक्ति कुछ काम नहीं कर सकती, जिसके सुलझाने में संसार का साधारण मानुषीय ज्ञान निष्फल हो जाता है; इसको कभी २ मनुष्य सहसा (अकस्मात्) भी प्राप्त कर लेता है, और इस दशा में वह व्यक्ति इस अतीन्द्रिय-ज्ञान लाभ के विज्ञान के विषय में अनभिज्ञ रह सक्ता है, परन्तु इससे उसको इस प्रकार की ज्ञान-प्राप्ती में कुछ भी प्रतिबन्धक नहीं होता ऐसे "अकस्मात् सिद्ध लोग साधारणतः ऐसा विश्वास कर लेते हैं, कि यह ज्ञान मनुष्य की विचार शक्ति के बाहर किसी प्रदेश से आता है। इससे यह अच्छी तरह से

समझ में आ जाता है, कि इस पारमार्थिक ज्ञान का विकाश सब देशों में ही एक प्रकार का होने पर भी किसी देश में इस ज्ञान को कोई देवता देगया, अथवा स्वयं भगवान् आकर देगये ऐसा सुना जाता है। तब प्रश्न यह उठता है, कि इसका कारण क्या है ? इसका कारण यह है, कि वास्तव में यह सब ज्ञान हमारी आत्मा में स्वाभावतः वर्त्तमान रहता है; परन्तु प्रत्येक व्यक्ति ने उसको अपने स्वदेश की शिक्षा व विश्वास के अनुसार इसको भिन्न २ प्रकार से वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त ऐसे वर्णनों से यह समझना चाहिए, कि इस प्रकार देव दूत और देवता आदि द्वारा इस परमार्थ-वुद्धि की प्राप्ति का वर्णन करने वाले वे सब धर्म प्रवर्तक या प्रचारक इस ज्ञानातीत भूमि में अकस्मात पहुंच गये थे। इसलिए इस भूमि में पहुंचने का फल परमार्थ ज्ञान प्राप्त होने पर भी उन्हें उस स्थान का पता नहीं लगा।

योगियों का कहना है, कि इस ज्ञानातीत अवस्था में हठात् पहुंचने से बहुत सी आपत्तियां (विपत्तियां) हो सक्ती हैं। यहां तक कि अधिकांश स्थलों में विकृत मस्तिष्क होने की संभावना रहती है। इसके अतिरिक्त और भी देखोगे, कि ऊपर बताये हुए धर्माचार्यगण चाहे कितने ही बड़े क्यों न हों परन्तु उनमें से जिन्होंने इस अलौकिक ज्ञान को अकस्माद् प्राप्त किया है, उनके उस ज्ञान के साथ कुछ न कुछ (अन्ध परम्परा गत कुसंस्कार मिले हुए हैं। वे अपने मन में विविध प्रकार

के भ्रम ज्ञान (अशुभ विचारों) को आने का भी अवसर देते हैं। क्योंकि इनके रोकने की कुछ भी शक्ति नहीं रहती।

हम संसार में समय २ पर सिद्धिप्राप्त महापुरुषों की जीवनियों की आलोचना करके देख पाते हैं, कि समाधि अवस्था प्राप्त करने में विपत्ति की आशङ्का रहती है। इसतरह विपत्ति की आशंका रहने पर भी हम देख पायेंगे, कि वे सब के सब अनन्य भक्त थे। चाहे किसी तरह से भी हो, उन्होंने इस अवस्था को प्राप्त किया था परन्तु इस पर हमें यह भी देखने में आता है; कि जबर कोई महा-पुरुष केवल अपनी उच्च भावना के द्वारा परिचालित होकर केवल-भावोच्छ्वास के वश वर्ति होकर इस अवस्था में प्राप्त हुए हैं उन्होंने कुछ सत्य प्राप्त किया है, यह बात सच है, परन्तु उसके साथ २ कितने ही कुसंस्कार आदि भी उनमें आये हैं। उनकी इस शिक्षा के भीतर जो उत्कृष्ट-अंश हैं, उनसे जैसे संसार का उपकार हुआ है; इन सब कुसंस्कारों के कारण उतनी ही अवनति भी हुई है।

मनुष्य-जीवन विविध प्रकार के विपरीत भावों से आक्रान्त होने के कारण अनमिल है परन्तु इस असामञ्जस्य के भीतर कुछ सामञ्जस्य व सत्य लाभ करने के लिए, हमें तर्क व युक्ति के अतीत प्रदेश में जाना होता है। परन्तु इसको धैर्य पूर्वक धीरे २ करना चाहिए। नियम-पूर्वक साधन द्वारा वैज्ञानिक

उपायों से वहां तक पहुंचना चाहिए और सारे कुसंस्कार (अन्ध परम्परा आदि) हमें छोड़ देने चाहिये। जैसे और किसी तरह के विज्ञान को सीखने के समय हम एक निश्चित प्रणाली का अवलम्बन करते हैं, इसमें भी उसी प्रकार निर्दिष्ट प्रणाली का अवलम्बन करना आवश्यकीय होता है। युक्ति का आश्रय कर इस रास्ते में अग्रसर होना चाहिए। तर्क और युक्ति हमें जहां तक ले जा सकती हैं, तहां तक इसके सहारे से चढ़ना चाहिए। इसके अनन्तर जब ऐसी अवस्था में पहुंचा जाय, जहां तर्क-वितर्क कुछ काम न कर सकें, वहां यह युक्ति ही हमें उस सर्वोच्च अवस्था की बात दिखा देगी। यह बात यदि सत्य है, तो जब कोई व्यक्ति आकर कहे, कि मैं भगवद्भावाविष्ट हूं या इसी तरह की युक्तिशून्य अंड-बंड कुछ कहता रहे, उसकी बात जरा भी न सुनना। क्योंकि पहिले हम जिन तीन अवस्थाओं की बात कह आये हैं; यथा-पशुपक्षियों में वर्त्तमान "सह-जात ज्ञान, विचार पूर्वक (अहं भाव सहित) ज्ञान व ज्ञानातीत अवस्था ये सब एक ही मन की विशेष अवस्थायें हैं। एक मनुष्य में तीन मन नहीं रह सकते; बल्कि एकही मन इन तीन अवस्थओं में परवर्तित होता रहता है। जैसे-सहजात-ज्ञान विचारपूर्वक ज्ञान में और विचार-पूर्वक ज्ञान ज्ञानातीत अवस्था में प्रवर्तित हो जाता है। इसलिए ये कुछेक अवस्थाओं में एक अवथा दूसरी अवस्था की विरोधी नहीं है। इस लिए जब किसी के

मुख से कोई असंवद्ध प्रलाप के समान व्यर्थ और युक्ति व सहज ज्ञान के विरुद्ध कोई बात सुन पाओ, तो निर्भीक मन से उसको परित्याग करदो। क्योंकि यथार्थ भगवद्भावावेश (भगवत् क्रान्ति) आनेपर उसमें पहिले जो सत्यअंसपूर्ण था, उसी को सम्पूर्ण कर देता है। एक अद्भुत किम्भूत किमाकार पहिले से स्वतन्त्र कोई अन्य विषय नहीं लाता। पुरातन महा पुरुष कह गये हैं कि "हम नाश करने के लिए नहीं आये हैं, बल्कि जो पहिले से ही असम्पूर्ण दशा में वर्त्तमान है, उसी को पूर्ण कर देने को आये हैं"। इस प्रकार से जब कोई व्यक्ति यथार्थ में भगवद् भावाविष्ट होता है, वह भी पहिले युक्ति और विचार द्वारा जितना सत्य लाभ किया जा सक्ता है उसी को अधिक सम्पूर्ण कर देता है; और वह सर्वथा युक्तियुक्त होता है जब वह युक्ति के विरोधी हो तबही जानना चाहिए, कि वह उसका परमार्थ विकाश नहीं, बल्कि भंड पना है।

इन ऊपर वर्णन किये हुये योग के अंगों को ठीक वैज्ञानिक उपायों से साधन करने से समाधि अवस्था निर्विघ्नता पूर्वक प्राप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त यह एक विशेष बात और भी जान रखना आवश्यक है, कि यह परमार्थ ज्ञान, जो महापुरुषों ने प्राप्त किया था; वह प्रत्येक मनुष्य के भीतर स्वभावतः वर्तमान है। अन्य साधारण मनुष्यों की अपेक्षा

उनमें इनकी कोई विशेषता थी, यह बात नहीं है; बल्किवे हमारे ही समान उत्पन्न हुए थे। परन्तु अभ्यास द्वारा उच्च योगाङ्ग में सिद्ध योगिराज थे। उन्होंने इस पूर्वोक्त ज्ञानातीत अवस्था को प्राप्त किया था, चेष्टा करने पर हम भी इस अवस्था को प्राप्त कर सक्ते हैं, वे कोई विशेष प्रकार के अद्भुत (लोकातीत) पुरुष थे, यह बात नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को ही यह अवस्था प्राप्त करनी सम्भव है, उसका सबसे दृढ़ प्रमाण यही है, कि पहिले एक व्यक्ति ने इस अवस्था को प्राप्त किया है। यह केवल सम्भव है, इतना ही नहीं, बल्कि जीवन में एक समय ऐसा आवेगा, जब सबके सब ही इस अवस्था को प्राप्त करेंगे। क्योंकि यह अवस्था प्राप्त करना ही मनुष्यों के मनुष्य जीवन की सबसे अधिक विशेषता और परम धर्म है। बस केवल प्रत्यक्ष अनुभूति-द्वारा ही इसकी यथार्थ शिक्षा प्राप्त हो सक्ती है यह बात निर्विवाद सिद्ध है।

हम यदि अपना सारा जीवन केवल विचार व तर्क करने में बितादें, तो हम एक बिन्दु मात्र सत्य को भी प्राप्त नहीं कर सक्ते। स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव किये बिना क्या कभी सत्य तत्व प्राप्त हो सक्ता है? कुछ पुस्तकें पढ़ा देने से क्या, किसी व्यक्ति को चिकित्सक बनाया जा सक्ता है? केवल एक नकशे (मानचित्र) में दिखा देने से क्या हमारी किसी देश को देखने की इच्छा पूर्ण हो सक्ती है? नहीं, बल्कि इन सब

में सिद्धि प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष-अनुभूति (प्रत्यक्ष दर्शन) की आवश्यक्ता होती है। मान चित्र केवल किसी देश के देखने के लिए हमारे में आग्रह जगा देता है। इसके अतिरिक्त उसका और कुछ मूल्य नहीं है। केवल पुस्तकों के ऊपर निर्भर कर, मनुष्य केवल अपने मन को अवनति के गड्ढे में डाल देता है। भगवान् का ज्ञान केवल इस पुस्तक या इस शास्त्र में लिखा है, ऐसा कहने की अपेक्षा और अधिक भगवान् की निन्दा क्या हो सकी है? मनुष्य भगवान् को ,'अनन्त" कहता है और जानता है; और फिर इस पर भी उसकोएक ग्रन्थ के भीतर बांधना चाहता है। कितना दुराग्रह है कि एक पुस्तक के भीतर सबका सब भगवत् सम्बन्धी अनन्त ज्ञान स्थापित किया गया है; इस बात को मानने के लिए जो तय्यार न हुए ऐसे लाखों मनुष्य प्राणियों की हत्या की गई है। यह बात अवश्य है, कि वर्तमान समय में अब इस तरह की धर्मान्धता का उन्माद लोगों में नहीं के बराबर है; किन्तु अब तक भी अधिकांश जनता इन ग्रन्थों के विश्वास में बहुत हीबुरी तरह से जकड़ी हुई है।

ध्यान व समाधि साधन विधि;—

ठीक वैज्ञानिक उपायों से इस ज्ञानातीत अवस्था को प्राप्त करने के लिए, हम तुम्हें राज योग के विषय में जिन उपदेशों को दे रहे हैं; उन प्रत्येक साधन के भीतर साधक को जांना

होगा पहिले प्रकरण में प्रत्याहार व धारणा के विषय में कहा गया है. अब हम इससे आगे ध्यान के विषय में आलोचना करेंगे। शरीर के भीतर अथवा बाहर किसी स्थान में जब मन कुछ क्षण तक स्थिर रहने की शक्ति प्राप्त कर लेता है; तब वह क्रमशः एक तरफ को ही अविच्छेद प्रवाह (तेल की धारा के समान) से चलता रहेगा। जब ध्यान इतने उत्कर्ष (उन्नति) को प्राप्त हो जाय, कि वह अपने बहिर्भाग से विलग होकर केवल आभ्यन्तर (भितरी) भाग की ओर अर्थात् उसके अर्थ (प्राप्तव्य वस्तु) की ओर ही सम्पूर्ण रूप से मन चलने लगे, तब इस अवस्था का नाम ही "समाधि" अवस्था कहा जाता है। धारणा ध्यान व समाधि इन तीनों को एक साथ मिला लेने से इसको "संयम" कहते हैं; अर्थात् मन यदि किसी वस्तु के ऊपर कुछ क्षण के लिए एकाग्र हो सके, फिर इसके बाद यदि वह इस एकाग्रता में अधिक क्षण तक रह सके फिर इस प्रकार क्रमशः इस एकाग्रता द्वारा वह (मन) केवल वस्तु के आभ्यन्तर देश में अर्थात् जिस आभ्यन्तरिक कारण से बाह्य वस्तु की अनुभूति उत्पन्न हुई है; उसके ऊपर मनको एकाग्र (संलग्न) रख सकें, तो इस प्रकार की शक्ति सम्पन्न मनुष्य को कौनसी ऐसी बात है, जो असाध्य हो? यह ही नहीं, बल्कि तब तो सारी प्रकृति ही उसके वश में हो जाती है।

मनकी जितने प्रकार की अवस्थायें हैं, उन में से यह

ध्यानावस्था ही जीवन की सबसे उच्च अवस्था है। जब तक जीव को वासना रहती है, तब तक जीव किसी तरह से भी सुखी नहीं रह सक्ता; केवल जब कोई व्यक्ति सम्पूर्ण वस्तुओं को इस ध्यानावस्था से अर्थात् शाक्षी रूपसे पर्यालोचना कर सके, तब ही उसको प्रकृतिक सुख लाभ हो सक्ता है दुसरे पूाणियों का सुख इन्द्रियों के ऊपर निर्भर करता है। परन्तु मनुष्य को अपनी विशेष विद्या बुद्धि और भगवान के अध्यात्मिक ध्यान में सुख हुआ करता है। जिनको ऊपर बताए अनुसार ध्यानावस्था प्राप्त हुई हो, उनको ही यथार्थ में यह संसार अधिक सुन्दर रूप में सुखधाम प्रतीत होता है। जिनके मनमें किसी पूकार की वासना नहीं है, जो सब विषयों से निर्लिप्त (मुक्त) रहते हैं; उनकी दृष्टि में पूकृति का यह विभिन्न पूकार का परिवर्तन केवल एक एक महान् सौन्दर्य और महान् भाव की छविमात्र होता है।

ध्यान में इन तत्वों को जानना आवश्यक होता है। जैसे मानलो, हमने एक शब्द सुना। इस में किया हुआ, पहले वाहर से एक तरह का कम्पन (स्फूरण) आया! इसके बाद स्नायुओं की गति शक्ति द्वारा वह मन में पहुंचा, फिर मनसे एक पूतिक्रिया हुई, और उसके साथ २ ही हमें उस वाह्य वस्तु का ज्ञान पूाप्त हुआ। यह वाह्य वस्तु ही आकाशीय कम्पन से मानसिक पूतिक्रिया तक भिन्न २. परिवर्तनों का कारण होती है। योग शास्त्र में इन तीनों को "शब्द, अर्थ और ज्ञान"

कहते हैं। शारीरिक तत्व शास्त्र की भाषा में कहना हो, तो इनको क्रमशः आकाशीय कम्पन, स्नायू व मस्तिष्क-मध्यस्त गति व मानसिक प्रतिक्रिया इन नामों से कहा जाता है। ये तीनों प्रक्रियायें बिल्कुल पृथक २ होने पर भी, साधारण मनुष्यों में वह इस तरह मिली हुई होती है कि इनका परस्पर भेद करके जानना बहुत मुश्किल होता है। वास्तव में हम इस समय इन तीनों में से किसी एक की भी बात नहीं जान सके; बल्कि केवल इन तीन प्रक्रियाओं का सम्मिलन (मिलित दशा का) स्वरूप बाह्य वस्तु मात्र को अनुभव करते हैं। जब प्रत्येक अनुभव क्रिया में ही ये तीन बातें रहा करती हैं; तब हम उन्हें चेष्टा करने पर पृथक २ क्यों न कर सकेंगे ?

इससे पहिले के प्रकरणों में बताये हुए अभ्यासों के द्वारा जब मन दृढ़ व संयत (स्थिर) हो जाय, और हमारे में सूक्ष्म अनुभव शक्ति का विकाश हो जावे, तब मन को ध्यान में नियुक्त करना चाहिए। सब से पहले किसी स्थूल वस्तु में ध्यानको जमाना चाहिए। इस प्रकार विशयशून्य क्रमशः "सूक्ष्म-ध्यान" (निर्विकल्प) ध्यान में अधिकार हो जाता है। इसको और भी स्पष्ट करने के लिए इस प्रकार कहा जा सक्ता है, जैसे मनको पहिले अनुभूति के बाह्य-कारण अर्थात् विषय (बाह्य वस्तु) में, फिर स्नायु मन्डल के मध्य स्थित् गति में, इसके बाद उससे उत्पन्न प्रतिक्रियाओं को अनुभव करने के लिए

प्रयोग करना चाहिए। जब अनुभूति का वाह्य उपकरण अर्थात् विषय-समूह अन्यान्य विषयों से पृथक करके परिज्ञात (समझ में) हो जायेंगे, तब सम्पूर्ण सूक्ष्म भौतिक पदार्थ, समुदाय सूक्ष्म शरीर व सूक्ष्म रूप जानने की क्षमता हो जायगी। जब अभ्यान्तरिक गतियों को अन्य समग्र विषयों से पृथक करके जाना जायगा, तब मानसिक वृत्ति-प्रवाहों को, साधक के अपने मनमें ही हों अथवा दूसरे के मनमें हों जान सकेंगे; यहां तक, कि वे भौतिक शक्ति के रूपमें परिणित होने के पहिले ही वह उसको मालूम हो जायेंगे; और जब केवल मानसिक प्रतिक्रियाओं को जान जायेंगे, तब योगी सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। क्योंकि जो कुछ भी वस्तुयें हमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती हैं, वे यहां तक कि समुदाय चित्तवृत्ति तक इस मानसिक प्रति क्रिया का फल हुआ करती हैं। इस प्रकार की अवस्था प्राप्त होने पर, वह साधक अपने मन की भित्ति (सीमा) तक को भी जान सकेगा और मन उस समय उसके विल्कुल वश में हो जायगा। योगी में उस समय विविध प्रकार की अलौकिक शक्तियां आ जायेंगी; परन्तु यदि वह इन सब शक्तियों को प्राप्ति में प्रलोभित हो जाय, तो उसका आगे से उन्नति का रास्ता रुक जाता है। भोगों के पीछे दौड़ने से जैसे अनर्थ हुआ करते हैं, उसी तरह योगी भी इन अलौकिक सिद्धियों के फल भोग में प्रलुब्ध हो कर अपनी अशेष क्षति कर देता है। किन्तु यदि वह (योगी) इन अलौकिक शक्तियों का विल्कुल परित्याग

कर सके तो वह मन-रूप समुद्र में स्थित सम्पूर्ण वृति प्रवाहों को अवरुद्ध (रोकना, अपने आधीन करना) करना रूप योग के चर्म (अन्तिम) लक्ष तक पहुंच पायेगा; और तब ही उसके अन्तरहृदय में "आत्मदेव की" यथार्थ महिमा प्रकाशित हो जायगी। उस समय मनके नाना प्रकार के विक्षेप व शारिरिक विविध प्रकार की गतियां, फिर उसको कुछ भी विचलित न कर सकेंगी। उस समय ही आत्मा अपनी पूर्ण ज्याति से प्रकाशित होवेंगी। उस समय योगी देख पायगा, कि वह ज्ञान स्वरूप, अमर सर्वव्यापी और वह अनादिकाल से ही इस रूप में रहा है।

इस समाधि साधन में प्रत्येक मनुष्य का, यहां तक की प्रत्येक प्राणी तक का समान अधिकार है। क्योंकि अति निम्नतम क्षुद्रप्राणियों से लेकर अति उच्च योनी देवताओं तक सभी किसी न किसी समय स्वभावतः इस अवस्था को प्राप्त करेंगे; और जब जिसको यह अवस्था प्राप्त होगी, वह उसी समय ही अपने यथार्थ धर्म को प्राप्त करेंगे। तब प्रश्न उठता है कि, हम इस समय जो कुछ कर रहे हैं, यह क्याहै? उत्तर में कहा जा सका है, कि हम इस अवस्था की ओर क्रमशः अग्रसर हो रहे हैं। इस समय हमारे साथ, जो धर्म को नहीं मानता, उसका विशेष कुछ भेद नहीं किया जा सकता। क्यों कि हमें इस समय (साधारण अवस्था में) ईश्वर-तत्व सम्बन्धी कुछ भी प्रत्यक्ष अनूभूति नहीं है। इस

एकाग्रता-साधन का एक मात्र प्रयोजन, प्रत्यक्षानुभूति लाभ करना है। इस समाधि दशा को प्राप्त करने के प्रत्येक अङ्ग नियम ही विशेष रूप से विचारे हुए, नियमित, श्रेणीवद्ध और वैज्ञानिक-प्रणाली से संवन्ध (निश्चित) किए गए हैं। यदि इसका साधन ठीक ठीक नियम पूर्वक किया जाय, तो यह निश्चय ही हमें अपने प्राकृतिक लक्ष्य स्थान तक पहुंचा देगी. उस समय हममें से सवका सव दुख चला जायगा, कर्मो के वीज दग्ध हो जायेंगे, और हमारा आत्मा अनन्त काल के लिए मुक्त हो जायगा।

आठवां अध्याय ।
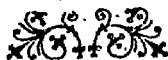
संक्षेप में राजयोग की क्रियायें ।

पहिले के प्रकरणों में वर्णन किये हुए योगसाधन विधियों में सफल होने पर, उनके फल स्वरूप योगी के हृदय में प्रज्वलित योग की (आत्मदेव के दिव्य ज्ञान रूपी) अग्नि में मनुष्य के सबके सब प्रभूत और संचित कर्म दग्ध हो जाते हैं। उस समय साधक की सत्त्व-शुद्धि वा मनकी शुद्धि हो जाती है और उसको साक्षात-निर्वाण पद प्राप्त हो जाता है। योग से ज्ञान प्राप्त होता है; और वह ज्ञान ही योगी का मुक्ति के मार्ग में सहायक होता है। जिस में योग और ज्ञान ये दोनों ही विराजमान हों, परमात्मा उसके प्रति प्रसन्न हो जाते हैं। जो साधक निरन्तर योग का अभ्यास करते रहते हैं, उनको मनुष्य नहीं, बल्कि देवता रूप समझना चाहिए।

यह योग दो भागों में विभक्त है; जैसे लययोग व ब्रह्मयोग जिसमें अपने को शून्य और गुण विरहित-रूप से चिन्तन किया जाता है। उसको लय योग कहते हैं जिस योग साधन के द्वारा साधक आत्मा को आनन्द

पूर्ण, पवित्र व ब्रह्म के साथ अभेद रूप से विचार करता है; उसको ब्रह्मयोग कहते हैं। हम जिन अन्यान्य योगों की बात शास्त्रों में पढ़ते हैं या सुनते हैं; वे सब केसब योग इस ब्रह्मयोग के अर्थात् जिस "ब्रह्मयोग" में योगी अपने को और सारे जगत् को साक्षात् भगवान् के स्वरूप में अवलोकन करता है, इसके एक कला (अंश) के समान भी नहीं हो सके। इसलिए यह ब्रह्मयोग ही सब प्रकार के योगों में से श्रेष्ठ है।

राजयोग के ये कुछ भिन्न २ अंग वा सोपान हैं। यथा-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि। उन्ही सबके क्रम बद्ध साधना से अष्टाङ्ग योग की सिद्धि होती है। इनमें से अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह को "यम" कहते हैं। इस यम की साधना से चित्त शुद्ध हो जाता है। शरीर मन व वाणी से निरन्तर सब प्राणियों में से किसी की भी हिंसा न करना अथवा किसी को कष्ट न देने को "अहिंसा" कहते हैं। "सत्य" के द्वारा हम यथार्थ में कार्य करने की शक्ति प्राप्त करते हैं। सत्य से ही सम्पूर्ण लाभ होता है, सत्य में ही यह सब कुछ स्थित है। जैसा देखा या अनुभव किया हो, उसको वैसा ही वर्णन करने का नाम "सत्य" है। चोरी या बलपूर्वक किसी दूसरे की वस्तू न लेने का नाम "अस्तेय" है। काय मनोवाक्य से सदा सब अवस्थाओं में मैथुन से वर्जित रहने का नाम "ब्रह्मचर्य" है। अधिक कष्ट के समय किसी दूसरे के पास से किसी

प्रकार की भी अनुचित सहायता न लेने का नाम अपरिग्रह है। क्योंकि जब कोई व्यक्ति दूसरे के पास से कुछ उपहार ग्रहण करता है; शास्त्र में कहा है, उस समय उसका हृदय अपवित्र हो जाता है, उसका मन हीन दशा पन्न हो जाता है, वह अपनी स्वाधीनता को भूल जाता है, और उसमें बद्ध व आसक्त हो जाता है।

साधक में निचे लिखे गुण होने अत्यधिक आवश्यकीय होते हैं यथा "नियम" नियम पूर्वक अभ्यास व कार्य करनेको नियम कहते हैं; "तप" कृच्छ (कठिन आजीवन व्यापि) व्रत का नाम तपस्या है; "स्वाध्याय" अध्यात्म शास्त्रों का पढ़ना; "सन्तोष" सब अवस्थाओं (दुःख सुख) में सन्तुष्ट रहना; "शौच" पवित्रता "ईश्वर-प्रणिधान" उपासना करना। इसके अतिरिक्त उपवास (व्रत रखना) आदि अन्यान्य उपायों से शरीर के संयम करने को शारीरिक तपस्या कहते हैं।

वेद का पाठ करना या और किसीमन्त्र का जपना जिससे सत्व-शुद्धि (अन्तःकरण की शुद्धि) हो, उसको ही "स्वाध्याय" कहते हैं। मन्त्र का जप करने के तीन नियम हैं, यथाः- "वाचिक, उपांशु व मानसिक'। वाचिक अथवा वहिः श्राव्य (मुखके बाहर सुनाई पड़ने वाला) जप, सब की अपेक्षा निम्न श्रेणी का होता है, जो जप ऊँचे स्वरसे किया जाय, कि उसको और सब सुन सकें, उसको "वाचिकजप, कहते हैं। जिस जप में केवल थोड़ा २ मुख खुले, परन्तु पास

बैठे हुए और कोई सुन न सकें, इस प्रकार मुख के भीतर किया जाय, उसको "उपांशु" जप कहते हैं। जिसमें किसी प्रकार शब्द का उच्चारण नहीं हो केवल मनही मन जप किया जाय; वल्कि उसके साथ २ मन्त्र के अर्थ का विचार किया जाय; उसको "मानसिक" जप कहते हैं। यह मानसिक जप ही सब की अपेक्षा उच्च जप विधी है। ऋषियों ने "शौच" दो प्रकार का कहा है; यथाः– वाह्य व आभ्यन्तर। मिट्टी, जल अथवा अन्यान्य द्रव्यों से जो शरीर को शुद्ध (साफ) किया जाता है (स्नान करना आदि उसको "वाह्यशौच" कहते हैं। सच बोलना या अन्यान्य धर्म आदि के द्वारा मन की शुद्धि को "आभ्यन्तर-शौच" कहते हैं। योगी को इन वाह्य व आभ्यन्तर दोनों प्रकार की शुद्धि की आवश्यक होती है। केवल भीतर से शुद्ध रहना और वाहर से अशुद्ध रहने से सम्पूर्ण रूप से शौचाचार का पालन किया गया नहीं कहा जा सक्ता। जब दोनों प्रकार के शौचाचारों का कार्य में परिणित करना सम्भव न हों, (समाधि अवस्थाओं में) तब उस समय केवल आभ्यन्तर शौच का ही अवलम्बन करना ठीक होता है। परन्तु साधारणतः इन दोनो प्रकार के शौचाचारों को यथावत न वर्त्तने से कोई भी योगी नहीं हो सक्ता।

"ईश्वर-प्रणिधान" का अर्थ भगवान की स्तुति करना, स्मरण करना व भक्ति करना है। यम नियम के विषय में हम पहिले ही बता चुके हैं; अब प्राणायाम के विषय में कहेंगे।

पूाण का अर्थ अपने शरीर के भीतर वर्त्तमान जीवनी-शक्ति और आयाम का अर्थ उसका संयम करना। यह पूणायाम तीन पूकार का होता है; यथा–अधम, मध्यम और उत्तम। इसके अतिरिक्त यह दो भागों में विभक्त होता है,पूरक और रेचक। जिस पूाणायाम में २ सेकण्ड तक वायू को पूरण किया जाय, उसको "अधम पूणायाम" कहते हैं। जिसं जिस पूणायाम में २४ सेकंण्ड तक वायु पूरण किया जाय, उसको मध्यम-पूणायाम कहते हैं। और जिस पूणायाम में ६६ सेकण्ड तक वायु को पूरण किया जाय उसको "उत्तम पूणायाम" कहते हैं। जिस पूणायाम के करने में पहिले पसीना, फिर कम्पन, उसके बाद आसनसे ऊपर निराधार में उठा जाय, और फिर आत्मा परमानन्द मय परमात्मा के साथ संयुक्त हुआ जाय, वह ही सबसे "उच्च पूणायम" होता है। गायत्री वेद का एक पवित्र मन्त्र है। उसका अर्थ यह है, कि "हम इस जगत् के सविता नाम देवता के वरणीय तेज का ध्यान करते हैं, वे हमारी बुद्धि में ज्ञान का विकाश करदें।" इस मन्त्र के आदि व अन्त में (पूणव) ॐ संयुक्त रहता है। एक पूणायाम के समय तीन बार गायत्री मन्त्र को मनही मन स्मरण करना चाहिए। प्रत्येक शास्त्र में पूणायाम तीन भागों में विभक्त करके बताया गया है; यथाः–रेचक बाहर श्वास छोड़ना) पूरक (भीतर श्वास खींचना और कुम्भक (भीतर श्वास को धारण कर रखना)। अनुभव-शक्ति-सम्पन्न इन्द्रियां क्रमशः वहिर्मुखि होकर काम करती हैं, और

वाहर की वस्तू के संस्पर्श में आती हैं। इस लिए इन इन्द्रियों को अपने आधीन करने को 'प्रत्याहार" कहते हैं अपनी तरफ शुद्ध वृतियों का संग्रह यह ही प्रत्याहार शब्द का अर्थ है।

हृदय-पद्म में अथवा भृकुटी के मध्य-भाग में मन को स्थिर करने को "धारणा" कहते हैं। जब मन एक जगह संलग्न रहता है, उस एक मात्र स्थान को अवलम्बन करके, जब वृत्ति प्रवाहों का समूह अन्य वृत्ति-प्रवाहों का स्पर्श न करके केवल एक तरफ की ओर प्रवाहित होती हैं; और सब अवरुद्ध हो जाती हैं; तब उसी को "ध्यान" कहते हैं। जब इस अवलम्बन का भी कुछ प्रयोजन नहीं रहता, केवल एक वृत्ति मात्र प्रवाहित होती रहती है, तब इस एक प्रत्यय (साक्षि स्वरूप) प्रवाह का नाम "समाधि" है। इस अवस्था में किसी विशेष प्रदेश अथवा शरीर मध्य वर्ति विशेष शक्ति केन्द्रों का आश्रय करके ध्यान-प्रवाह नहीं उठता। उस समय केवल ध्येय वस्तू का भावनायें साधक में अवशिष्ट रहता है। यदि मन को किसी एक स्थान पर १२ सेकण्ड तक धारण किया जाय, तो इससे एक धारणा पूर्ण होगी। इस एक धारणा को १२ से गुनने पर जो समय निकले उतने समय तक मनको एक वस्तू में स्थिर रखने से एक ध्यान होता है और इस ध्यान को १२ से गुनने पर जितना समय निकले उतने समय तक स्थिर रहने से एक समाधि होती है।

अब इस के बाद आसन की बात आती है। आसनों के सम्बन्ध में केवल इतना ही समझ रखना पर्याप्त होगा, कि साधन में इस प्रकार से बैठा जाय, जिससे शरीर बिलकुल सुख पूर्वक रह सके; छाती, कन्धे व मस्तक एक सीध में सीधे टिके रहें। जहां पर अग्नि व जल का भय हो; जिस भूमि में सूखे पत्ते बिखरे हों, जहां पर वन के हिंसक जन्तु (सिंह व्याघ्र) आदि का भय हो, चौराहे में, अधिक कोलाहल वाली जगह में, अत्यन्त भयावने स्थान में, वाल्मीक (बबई) के स्तूप के निकट, जहां पर पापाचारियों की बस्ती हो, ऐसे स्थानों में बैठ कर किसी तरह की भी साधन करना उचित नहीं।

जब शरीर में अधिक आलस्य प्रतीत हो, या जिस समय मन अधिक दुःख पूर्ण हो अथवा जब शरीर कुछ अस्वस्थ प्रतीत हो, उस समय साधन न करना चाहिए। एकमात्र गुप्त और निर्जन स्थान में, जहां पर लोग तुम्हारी साधना में विघ्न करने को न आ सकें ऐसे स्थान में जाकर साधन करना चाहिए। अशुद्ध स्थान में बैठ कर भी साधन न करना चाहिए; बल्कि सुन्दर रमणीक बाहर किसी एकान्त स्थान में या अपने घर में ही किसी एक सुन्दर स्वच्छ एकान्त कमरे में बैठ कर साधन करना चाहिए। साधना में प्रवृत्त (बैठने) के पहिले सब के सब प्राचीन योगी गणों, को अपने गुरु देव को और भगवान् को नमस्कार कर साधन आरम्भ करना चाहिए।

अब यहां पर ध्यान के विषय में कुछ बातें और ध्यान की कुछ विशेष विधियों के विषय में वर्णन करते हैं।

ध्यान की पहिली विधिः—ठीक सीधा एक सीध में बैठ कर अपनी नासिका के अग्र भाग (अगले भाग) में अपनी दृष्टि को टिकाओ; फिर इसके बाद मस्तक के ऊपरले भाग में कुछ ऊपर एक पद्म (सहस्रदल) है, यह विचार करो, धर्म उसके मध्य भाग में है, ज्ञान उसके मृणाल स्वरूप (डंडी के समान) है, योगी को प्राप्त होने वाली अणिमा आदि अष्ट सिद्धियां इस पद्म के आठ पत्रों (पंखड़ियों) के समान और वैराग्य उसके अभ्यन्तर (भीतर) स्थित बीजकोष या केशर स्वरूप चिन्तवन करो। इस प्रकार साधन करते रहने पर साधना के मार्ग में विघ्न स्वरूप अणिमादि आठ अलौकिक सिद्धियां उपस्थित होती हैं। जो योगी इन समस्त सिद्धियों के प्राप्त होने पर भी उनको इच्छा सहित परित्याग कर देते हैं, वेही मुक्ति को प्राप्त होते हैं। इसी लिए ही सिद्धियों को पत्र रूप में और भीतर की गर्भ केशर को पर-वैराग्य के रूप में वर्णन किया गया है। पर वैराग्य का अर्थ यह है, कि इन सब महान सिद्धियों के उपस्थित होने पर भी उनमें वैराग्य होता है। इस पद्म के भीतर स्वर्ण, वर्ण सर्व शक्तिमान जिसका नाम ॐ है, जो अव्यक्त और परम ज्योति (तेजो वलय) द्वारा परिवेष्टित है, उसकी चिन्ता (ध्यान) करो।

ध्यान की दूसरी विधि;— और एक दूसरे प्रकार से ध्यान की विधी कहते हैं; यथा विचार करो, कि तुम्हारे हृदय के भीतर एक अकाश विद्यमान है, और इस आकाश में एक अग्नि शिखा के समान ज्योती प्रज्वलित हो रही है; इस ज्योति शिखा को अपने आत्मा के रूप में ध्यान करो, फिर इस ज्योति के भीतर और एक ज्योतिर्मय आकाश की चिन्ता करो; यही तुम्हारी आत्मका आत्म, परमात्मा रूप ईश्वर है। हृदय में इन्हीं परमात्मा देव का ध्यान करो। ब्रह्मचर्य, अहिंसा और सबको यहां तक की बड़े से बड़े शत्रु को भी हृदय से क्षमा करो; सत्य व ईश्वर में विश्वास ये सब ही भिन्न २ वृत्ति के स्वरूप हैं। यदि इन सब में तुम सिद्धि न प्राप्त कर सको, तोभी दुःखित वा भयभीत न होना चाहिए। इनमें तुम्हारे पास जितना कुछ है, उसी को लेकर कार्य करना आरम्भ करदो, और सब वृतियां क्रमशः साधना में अग्रसर होने पर स्वयं आ जायेंगी। जिस साधक ने सब तरह की आसक्ति (मोह) भय व द्वेष का त्याग कर दिया है, जिसकी आत्मा सम्पूर्ण रूप से भगवान् में अर्पित हो गई है, जिसने भगवान् की शरण ग्रहण करली है, जिसका हृदय पवित्र हो गया है; वह भगवान की शरण में जो कुछ भी उचित वाञ्छा करता है, भगवान् उसी समय उसको पूर्ण कर देते हैं। इसलिए उन भगवान् को ज्ञान, प्रेम अथवा वैराग्य-योग द्वारा उपासना कर कृतार्थ होना चाहिए।

जो किसी के भी प्रति द्वेष नहीं करता, जो सबका मित्र है, जो सबके प्रति करुणा भाव रखता है, जिसका अपना कहने मात्र को कुछ नहीं है जिसका अहंकार दूर हो गया है जो सदा ही सन्तुष्ट रहता है, जो सर्वदा योग-युक्त रहता है, जिसका मन स्थिर हो गया है, जो दृढ़ निश्चय सम्पन्न है, जिसकी मन और बुद्धि मेरे (भगवान्) के प्रति अर्पित हो गई है, वह ही मेरा (श्री भगवान का) प्रिय भक्त है। जिसके रहने से लोग उद्विग्न नहीं होते, जो लोगों से उद्विग्न नहीं होता जो अधिक हर्ष और दुःख तथा भय और उद्वेग (घबड़ाहट) छोड़ चुका है; ऐसा भक्त ही मेरा (भगवान का) प्रिय होता है।

जो किसी चीज की भी अपेक्षा नहीं रखता, जो शुचि (शुद्ध) दक्ष और सब विषयों का त्याग कर अत्यन्त दुःख में भी उदासीन भाव से रहता है, जिसका दुःख दूर हो गया है, जो निन्दा और स्तुति में सम भाव से वर्त्तता है, साधना में तत्पर हो, ध्यान परायण हो और जो कुछ मिल जाय, उसी में सन्तुष्ट रहता है, जो गृह शून्य हो, जिसका कोई निर्दिष्ट घर न हो, सारा संसार ही जिसका घर हो, जिसकी बुद्धि स्थिर हो, इस प्रकार का व्यक्ति ही योगी हो सकता है।

यहां पर प्रसंग वस उदाहरण के लिए पुरतन कथा लिखते हैं। यथा—नारद नाम के एक उच्च अवस्था प्राप्त

देव ऋषि थे। जैसे मनुष्यों में ऋषी अर्थात् महा महा योगी राज होते हैं; उसी तरह पर देवताओं में भी बड़े २ योगीराज हैं। नारद भी देवताओं में उसी तरह के महा योगीराज थे। यह सब जगह घूमते फिरते रहते थे। एक दिन उन्होंने एक वन के बीच में से जाते हुए देखा कि, एक कोई साधक स्थिरता पूर्वक बैठा हुआ ध्यान कर रहा है। वह अपने ध्यान में इतना अधिक मग्न है, कि उसके चारों ओर बबई (बल्मिकि) का ढेर जम गया है। उसने नारद को जाते देख कर कहा, "प्रभो! आप कहां जा रहे हैं।" नारद ने उत्तर दिया "मैं वैकुण्ठ लोक में श्री भगवान् के पास जा रहा हूं" तब उसने कहा, कि भगवान् से निवेदन करना, कि वे मुझपर कब कृपा करेंगे, मैं कब मुझे प्राप्त करूंगा? नारद यह सुन कर कुछ आगे बढ़े, तो वहां पर एक और साधक को देखा, वह नाचता-कूदता हुआ गीन आदि गा रहा था। उसने भी नारद से पूर्वोक्त साधक के समान प्रश्न किया। उसका स्वर वागभंगी (बोलने का लहजा) आदि सबका सब ही विकृत होगया था। उसे भी पहले के समान उत्तर दिया। तब वह बोला की भगवान् के चरणों में निवेदन करना, कि मैं कब मुक्त होऊँगा? फिर नारद ने इसी रास्ते लौट कर जाते हुए, उस ध्यान में स्थित व वल्मकि-स्तूप-मध्यस्त योगी को देख पाया। उसने पूछा "देवर्षे! क्या आपने मेरी बात श्री भगवान से पछी थी?" नारद ने कहा. "हाँ. मैंने पछा

था"। तब उस योगी ने नारद से पूछा, कि "श्री भगवान् ने क्या कहा?" नारद ने उत्तर दिया, कि "मुझे प्राप्त करने के लिए अभी तुम्हें चार जन्म तक इसी तरह साधना करनी होगी।" यह सुन कर वह योगी अत्यधिक विलाप करके कहने लगा, कि "मैंने इतना ध्यान किया है, कि मेरे चारों ओर वल्मीक-स्तूप जम गया है, इस पर भी मेरे लिए अभी चार जन्म बाकी हैं।" नारद फिर दूसरे व्यक्ति के पास पहुंचे। उसने नारद से पूछा, कि "क्या आपने मेरी बात श्री भगवान से पूछी थी?" नारद ने कहा "हाँ, श्री भगवान् ने कहा है, कि तुम्हारे सामने यह जो तिन्तड़ीक (इमली का) वृक्ष है, इसके जितने पत्ते हैं, तुम्हें उतनी बार जन्म ग्रहण करना होगा।" इस बात को सुन कर वह आनन्द में विभोर होकर नाचने लगा, और कहने लगा, कि मैं इतने थोड़े समय में मुक्त हो जाऊँगा? तब वहां पर एक देववाणी हुई, कि "वत्स! तुम इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त करोगे।" वह व्यक्ति इतना अध्यवसाय सम्पन्न था, इसी लिए उसको यह पुरस्कार प्राप्त हुआ। क्योंकि वह इतने अधिक जन्म तक भी काम करने के लिए प्रस्तुत था। किसी तरह से भी उसमें निरुद्योग का प्रवेश नहीं हो पाया था। परन्तु वह पहिला व्यक्ति इतना निरुद्योगी था, कि चार जन्म को भी बहुत अधिक समय मान कर हताश हो गया था। इस लिए उसको शीघ्र ही सफलता न मिल सकी।

इस कथा से यही उपदेश प्राप्त होता है, कि चाहे कितने ही जन्म जन्मान्तर तक सफलता क्यों न मिले, फिरभी हताश न होकर इस दूसरे व्यक्ति के समान खुशि २ साधना के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए, इससे अन्तमें उस मुक्ति रूप महान फल की प्राप्ति निश्चित ही हो जायगी।

शान्तिः शान्तिः शान्तिः